❀ श्रीश्रीगुरु-गौराङ्गौ जयतः ❀

स वै पुंसां परो धर्मो यतो भक्तिरधोक्षजे ।

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन कथासु यः

नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम् ॥

अहैतुक्यप्रतिहता ययात्मासुप्रसीदति ॥

सर्वोत्कृष्ट धर्म है वह जो आत्मा को आनन्द प्रदायक ।
भक्ति अधोक्षज की अहैतुकी विघ्नशून्य अति मंगलदायक ॥

सब धर्मों का श्रेष्ठ रीति से पालन करते जीव निरन्तर ।
किन्तु हरि-कथा-प्रीति न हो, श्रम व्यर्थ सभी, केवल बन्धनकर ॥

वर्ष २ | गौराब्द ४७०, मास—माधव २७, वार—प्रद्युम्न मङ्गलवार, २९ माघ, सम्वत् २०१३, १२ फरवरी १९५७ | संख्या ९

श्रीश्रीशिक्षाष्टकम्

[कलियुगपावनावतारी-श्रीश्रीमत्कृष्णचैतन्य-वदनाब्ज विगलित-वाक्यवेदम्]

चेतोदर्पण-मार्जनं भवमहादावाग्नि-निर्वापणं
श्रेयः कैरवचन्द्रिका-वितरणं विद्यावधू-जीवनम् ।
आनन्दाम्बुधि-वर्द्धनं प्रतिपदं पूर्णामृतास्वादनं
सर्वात्मस्नपनं परं विजयते श्रीकृष्णसंकीर्तनम् ॥१॥

चित्तरूपी दर्पणको परिमार्जित करनेवाला, संसाररूपी महादावानलको बुझा देनेवाला, परम कल्याणरूप कुमुदको विकसित करनेवाली ज्योत्स्नाको फैलानेवाला; पराविद्यारूपी वधूका जीवनस्वरूप, आनन्द-समुद्रको बढ़ानेवाला, पद-पद पर पूर्ण अमृतका आस्वादन प्रदान करनेवाला, सम्पूर्ण आत्माको आनन्दमें सराबोर कर देनेवाला अद्वितीय श्रीकृष्ण-संकीर्तन सर्वोपरि जययुक्त हो ॥१॥

नाम्नामकारि बहुधा निजसर्वशक्तिस्तत्रार्पिता नियमितः स्मरणे न कालः ।
एतादृशी तव कृपा भगवन्ममापि दुर्दैवमीदृशमिहाजनि नानुरागः ॥४॥

भगवन् ! आपने अपने गोविन्द, गोपाल, वनमाली इत्यादि अनेक नाम प्रकट किये हैं और उन नामोंमें अपनी सम्पूर्ण शक्ति निहित कर दी है । श्रीनामस्मरणमें कोई कालाकालका विचार भी नहीं रखा है । आपकी तो इस प्रकारकी कृपा है और इधर नामापराधरूप दुर्दैवके कारण मेरा भी इस प्रकारका दुर्भाग्य है कि ऐसे सुलभ श्रीहरिनाममें अनुराग नहीं हुआ ।

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना ।
अमानिना मानदेन कीर्तनीयः सदा हरिः ॥३॥

जो तृणकी अपेक्षा भी अपनेको अतिशय दीन-हीन समझते हैं, जो वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु होते हैं, स्वयं मानशून्य रहते हुए दूसरोंको मान प्रदान करते हैं,वे ही निरन्तर श्रीहरिनाम संकीर्तनके अधिकारी हैं ।

न धनं न जनं न सुन्दरीं कवितां वा जगदीश कामये ।
मम जन्मनि जन्मनीश्वरे भवताद्भक्तिरहैतुकी त्वयि ॥४॥

जगदीश ! मैं धन, जन, कामिनी, काव्य अथवा पाण्डित्यकी कामना नहीं करता हूँ । परमेश्वर-स्वरूप तुम्हारे प्रति जन्म-जन्मान्तरमें मेरी अहैतुकी भक्ति हो ।

अयि नन्दतनूज किङ्करं पतितं मां विषमे भवाम्बुधौ ।
कृपया तव पादपङ्कज-स्थितधूलीसदृशं विचिन्तय ॥५॥

नन्दनन्दन ! तुम्हारा दास मैं इस घोर दुष्पार संसार-सागरमें पड़ा हुआ हूँ, मुझको कृपापूर्वक अपने पाद-पद्मकी धूलके समान समझिये ।

नयनं गलदश्रुधारया वदनं गद्गदरुद्धया गिरा ।
पुलकैर्निचितं वपुः कदा तव नाम ग्रहणे भविष्यति ॥६॥

गोपीजनवल्लभ ! कब आपके श्रीनामग्रहणके समय मेरे दोनों नेत्र बहती हुई अश्रुधारासे, मेरा वदन गद्गद होनेके कारण रुकी हुई वाणीसे तथा मेरा शरीर रोमाञ्चसे युक्त होगा ?

युगायितं निमेषेण चक्षुषा प्रावृषायितम् ।
शून्यायितं जगत्सर्वं गोविन्द-विरहेण मे ॥७॥

गोविन्द ! आपके विरहमें मेरा एक-एक निमेष युगके समान बीत रहा है, नेत्रोंसे वर्षाकी धाराके समान अश्रुवर्षा हो रही है और सारा जगत् शून्य जान पड़ता है ।

आश्लिष्य वा पादरतां पिनष्टु मामदर्शनान्मर्महतां करोतु वा ।
यथा तथा वा विदधातु लम्पटे मत्प्राणनाथस्तु स एव नापरः ॥८॥

चरणसेवामें लगी हुई मुझ (दासी) को वे गलेसे लगा लें या पैरोंतले रौंद डालें अथवा दर्शन न देकर मर्माहत ही करें, उन परम स्वतन्त्र (लम्पट) श्रीकृष्णकी जो इच्छा हो, वही करें; तथापि मेरे तो वे ही प्राणनाथ हैं, दूसरा कोई नहीं ।

———

श्रीजयतीर्थ

पूर्व-परिचय

श्रीजयतीर्थ श्रीमध्व सम्प्रदायके एक संन्यासी आचार्य थे। इनका पूर्व नाम धोण्डरघुनाथ पन्थ था। इनका जन्म पण्ढरपुरके निकटवर्त्ती मंगलावेड नामक एक गाँवमें सम्वत् ११४८ में हुआ था। पिताका नाम रघुनाथराव और माताका रुक्मा बाई था। इनकी पत्नीका नाम भोमाबाई था। पत्नीके साथ झगड़ा होनेसे घर-बार छोड़ कर श्रीरंगपत्तन नामक स्थानमें अश्वारोही सैन्यदलमें भर्त्ती हो गये थे।

दीक्षा और समाधि

एक दिन ये घोड़े पर सवार होकर एक नदी पार कर रहे थे। सहसा वहीं पर अक्षोभ्यमुनिसे उनकी भेंट हुई। अक्षोभ्यमुनि मध्व सम्प्रदायके एक प्रतिभाशाली आचार्य थे। थोड़ी देर के सत्संगसे ही धोण्डरघुनाथकी आँखें खुल गयीं। उन्हें दिव्य ज्ञान प्राप्त हो गया। उन्होंने अपनी वृत्ति त्यागकर सम्वत् ११६७ के मार्गशीर्ष महीने में शुक्ला पंचमी तिथिको उन्हींसे विधिवत् संन्यास ले लिया। सम्वत् ११९० की आषाढ़ी कृष्णा पंचमीके ८० दिन वर्षकी अवस्थामें उन्होंने समाधि ग्रहण कर लिया। गौड़ीय वैष्णवोंकी गुरुपरम्परामें इनका नाम आदर की दृष्टिसे देखा जाता है।

रचित मूल-ग्रन्थ और टिकाएँ

मध्व-सम्प्रदायमें प्रवेश कर २२ वर्ष ७ महीनेमें उन्होंने अनेक ग्रन्थों की रचना की है। उनके मूल-ग्रन्थ ये हैं—

(१) प्रमाण-पद्धति, (२) वादावली, (३) शतापराध स्तोत्र और (४) पद्यमाला।

उनके टीका-ग्रन्थ—

(१) माध्वभाष्य पूर्णप्रज्ञदर्शनकी तत्त्व-प्रकाशिका टीका।
(२) सुधा, माध्वभाष्यका अनुव्याख्यान।
(३) न्याय-विवरण टीका।
(४) प्रमेय-दीपिका टीका।
(५) न्याय-दीपिका टीका।
(६) तत्त्वसंख्यान टीका।
(७) तत्त्वविवेक टीका।
(८) उपाधि-खण्डन टीका।
(९) मायावाद-खण्डन टीका।
(१०) मिथ्यात्वानुमान-खण्डन टीका।
(११) तत्त्व-निर्णय टीका।
(१२) न्याय कल्पतरु प्रमाण-लक्षण टीका।
(१३) कथा-लक्षण टीका।
(१४) तत्वद्योत टीका।
(१५) कर्म-निर्णय टीका।
(१६) षट्प्रश्न भाष्य टीका।
(१७) ईशावास्य भाष्य टीका।
(१८) ऋग्भाष्य टीका।

गुरु और शिष्य-परम्परा

पूर्वगुरु-परम्परा—

(१) श्रीमन्मध्वाचार्य
(२) पद्मनाभ, सम्वत् ११२०
(३) नरहरि तीर्थ, सम्वत् ११२७
(४) माधवतीर्थ, सम्वत् ११३६
(५) अक्षोभ्यतीर्थ, सम्वत् ११५०
(६) जयतीर्थ, सम्वत् ११६७

शिष्य परम्परा—

(उडूपी मठके 'तीर्थ' उपाधिधारी उत्तराढ़ी मठकी तत्त्ववादी शाखा)

(१) विद्याधिराज ११९०, (२) कवीन्द्रतीर्थ १२५४, (३) वागीशतीर्थ १२६१, (४) रामचन्द्र १२६९, (५) विद्यानिधि १२९८, (६) रघुनाथ १३६६, (७) रघुवर्य १४२४, (८) रघुत्तम १४७१, (९) वेदव्यास १५१७, (१०) विद्याधीश १५४१, (११) वेदनिधि १५५३,

(१२) सत्यव्रत १५५७, (१३) सत्यनिधि १५६०, (१४) सत्यनाथ १५८२, (१५) सत्याभिनव १५९५, (१६) सत्यपूर्ण १६२८, (१७) सत्यविजय १६४८, (१८) सत्यप्रिय १५५९, (१९) सत्यबोध १६६६, (२०) सत्यसन्ध १७०५, (२१) सत्यवर १७१६, (२२) सत्यधर्म १७१९, (२३) सत्यसंकल्प १७५२, (२४) सत्यसञ्जुष्ट १७६३, (२५) सत्यपरायण १७६३, (२६) सत्यकाम १७८५, (२७) सत्येष्ट १७९३, (२८) सत्यपराक्रम १७९४, (२९) सत्यवीर १८०१, (३०) सत्यधीर १८०८ ।

गौड़ीय-वैष्णव-शाखा

(१) ज्ञानसिन्धु, (२) दयानिधि, (३) विद्यानिधि, (४) राजेन्द्र, ५) जयधर्म, (६) पुरुषोत्तम और विष्णुपुरी, (७) ब्रह्मण्य, (८) व्यासतीर्थ, (९) लक्ष्मीपति, (१०) माधवेन्द्रपुरी, (११) ईश्वरपुरी, (१२) श्रीकृष्णचैतन्य सम्वत् १४२६ ।

'जयतीर्थ-विजय' नामक ग्रन्थमें जयतीर्थका जीवन-चरित लिखा है । पद्मनाभाचार्यने अपने रचित ग्रन्थमें उक्त ग्रन्थका उल्लेख किया है और लिखा है कि विद्यारण्यभारती, वेदान्तदेशिक और जयतीर्थ समसामयिक व्यक्ति हैं ।

—ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिसिद्धान्त सरस्वती

शरणागति

रक्षकके रूपमें वरण (वाचिक)

[ॐ विष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर]

तुम सर्वेश्वर-ईश हो हे व्रज-ईश-कुमार ।
तव इच्छासे होत है सृजन थिति संहार ॥
तुम्हरी इच्छासे सदा ब्रह्मा सिरजन हार ।
तुम्हारी इच्छा विष्णु हैं करते पालन कार ॥
तव इच्छासे शिव हैं करते जग संहार ।
तव इच्छा सिरजन करे माया कारागार ॥
तव इच्छासे जीव भी जनम-मरण नित पाय ।
हानि लाभ अरु सुख-दुःख नित आवे नित जाय ॥
मिछे मायाबद्ध जीव फँसता माया-पाश ।
लाख करे छूटत नहीं जब लौ अपनी आश ॥
निज-बल-चेष्टाके प्रति तज कर सारी आश ।
तव इच्छा प्रति सर्वदा रहत लगायी आश ॥
दीन अकिञ्चन है प्रभो सेवक भक्तिविनोद ।
यह जीवन औ मरण है नाथ तुम्हारे मोद ॥

(२) प्रयास

'प्रयास' का परित्याग किये बिना भक्तिका आविर्भाव नहीं होता। 'प्रयास'—शब्दसे आयास या श्रमका बोध होता है। भगवान्‌के प्रति शुद्धा-भक्तिके अतिरिक्त परमार्थ नामक कोई वस्तु नहीं है। भगवान्‌के चरणोंमें शरणागति और आनुगत्य ही भक्तिके लक्षण हैं। ये दोनों जीवोंके स्वभाव-सिद्ध नित्य-धर्म हैं। अतएव भक्ति जीवोंकी स्वाभाविक वृत्ति अथवा सहज धर्म है। सहज धर्ममें प्रयासकी कोई आवश्यकता नहीं होती, तथापि जीवोंकी बद्ध दशामें भक्तिके साधनमें प्रयासकी थोड़ी-थोड़ी आवश्यकता होती है। उस मामूली प्रयासके अतिरिक्त समस्त प्रकारके प्रयास भक्तिके प्रतिकूल होते हैं। प्रयास दो तरहका होता है। ज्ञान-प्रयास और कर्म प्रयास। ज्ञान प्रयासका फल है—केवलाद्वैतका बोध, जिसे दूसरे शब्दोंमें सायुज्य मुक्ति या ब्रह्मनिर्वाण भी कह सकते हैं।

ज्ञान-प्रयास भक्तिका विरोधी है

ज्ञानका प्रयास परमार्थ-बाधक होता है। वेदोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण मिलते हैं। मुण्डकोपनिषद्‌में इस कथनकी पुष्टि की गयी है—

नायमात्मा प्रवचनेन लभ्यो न मेधया न बहुना श्रुतेन।
यमेवैष वृणुते तेन लभ्यस्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्॥
(मुण्डक ३।२।३)

—'आत्मा' शब्दसे आत्मतत्त्व और परमात्मतत्त्व—दोनोंका बोध होता है। यह आत्मा न तो वेद-शास्त्रके अधिक अध्ययनरूप प्रवचनसे प्राप्त होने योग्य है, न ग्रन्थके अर्थको धारण करनेकी शक्ति—मेधासे अथवा न अधिक शास्त्र-श्रवणसे ही। यह विद्वान् जिस परमात्माको वरण करता—प्राप्त करनेकी इच्छा करता है उसीकी इच्छा या कृपासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है—अर्थात् जो परमात्माको अपने प्रभुके रूपमें वरण करते हैं, उनके निकट ही वह अपना स्वरूप प्रकट करता है। नित्य प्राप्त होनेके कारण अन्य किसी भी साधनसे वह प्राप्त नहीं हो सकता।

सुतरां भक्ति ही भगवत्प्राप्तिका एकमात्र हेतु है। श्रीमद्भागवत्‌में भी ज्ञानके प्रयासको नितान्त हेय और परमार्थका बाधक बतलाकर उसे त्याग करनेका उपदेश दिया गया है—

ज्ञाने प्रयासमुदपास्य नमन्त एव
जीवन्ति सन्मुखरितां भवदीय-वार्त्ताम्।
स्थाने स्थिताः श्रुतिगतां तनुवाङ्‌मनोभि-
र्ये प्रायशोऽजित जितोऽप्यसि त्रैलोक्याम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।३)

—प्रभो! जो लोग ज्ञानके लिये प्रयत्न न करके अपने स्थानमें ही स्थित रह कर केवल सत्सङ्ग करते हैं और आपके प्रेमी सन्त-पुरुषोंके द्वारा गायी हुई आपकी लीला-कथाका जो उनके पास रहनेसे अपने-आप सुननेको मिलती है, तन, मन और वचनसे विनयावनत होकर सेवन करते हैं—यहाँ तक कि उसे ही अपना जीवन बना लेते हैं, उसके बिना जी ही नहीं सकते—प्रभो! यद्यपि आपपर त्रिलोकीमें कोई कभी विजय प्राप्त नहीं कर सकता, फिर भी वे आप पर विजय प्राप्त कर लेते हैं; आप उनके प्रेमके आधीन हो जाते हैं।

आगे देखिये, ज्ञान-प्रयासकी हेयता दिखलाते हुए भागवतकारने एक बड़ी ही सुन्दर उपमाकी अवतारणा की है—

श्रेयः-सृतिं भक्तिमुदस्य ते विभो
क्लिश्यन्ति ये केवल-बोध-लब्धये।
तेषामसौ क्लेशल एव शिष्यते
नान्यद् यथा स्थूल-तुषावघातिनाम्॥
(श्रीमद्भा० १०।१४।४)

—भगवन्! आपकी भक्ति सब प्रकारके कल्याणका मूलस्रोत—उद्गम है। जो लोग उसे छोड़कर केवल ज्ञानकी प्राप्तिके लिए श्रम उठाते और दुःख भोगते हैं, उनको बस क्लेश-ही-क्लेश हाथ लगता है और कुछ नहीं—जैसे थोथी भूसी कूटनेवालोंको केवल श्रम ही मिलता है, चावल नहीं।

सम्बन्ध-ज्ञान—अद्वैत-ज्ञानसे भिन्न और पवित्र होता है

केवलाद्वैतवादरूप ज्ञान सत्यमूलक नहीं है, प्रत्युत् यह अद्वैतवादरूप-ज्ञान असुरोंको मोहित करनेके लिये आसुर-विधान मात्र है। शास्त्रोंमें जिस सम्बन्ध ज्ञानकी प्रशंसा की गयी है, वह ज्ञान अद्वैतवादके ज्ञानसे सम्पूर्ण भिन्न है। सम्बन्ध-ज्ञान अतिशय पवित्र और सहज होता है, उसमें प्रयासकी तनिक भी आवश्यकता नहीं होती। चतुःश्लोकी भागवतमें जिस ज्ञानका उल्लेख किया गया है, वह यही 'सम्बन्ध-ज्ञान अथवा अचिन्त्य-भेदाभेद-ज्ञान' है। यह ज्ञान जीवोंके हृदयमें स्वभावतः निहित होता है। भगवान् चिन्मय-सूर्य हैं, जीव किरणगत क्षुद्र परमाणु है। भगवान्के आनुगत्यके बिना जीव अपने स्वरूपमें अवस्थित नहीं रह सकता है। इसलिए भगवद्दास्य ही जीवोंका स्वधर्म है।

भक्तिका साधन—प्रयासके अन्तर्गत नहीं

यद्यपि बद्ध दशामें जीवोंका स्वधर्म (भगवद्दास्य) सुप्तप्राय रहता है, एवं साधन द्वारा जाग्रत होता है, तथापि ज्ञानकाण्ड और कर्मकाण्डके प्रयासोंकी तरह भक्तिके साधनमें प्रयास नहीं है। एकमात्र श्रद्धापूर्वक श्रीहरिनामका आश्रय लेनेसे ही थोड़े ही समयमें अविद्याका आच्छादन हट जाता है और स्वधर्म-सुख प्रकट हो जाता है। परन्तु ज्ञानके प्रयासको हृदयमें स्थान देनेसे अधिकाधिकरूपमें कष्ट भोगना पड़ता है। फिर जब सत्सङ्गके प्रभावसे ज्ञान-प्रयास छूट जाता है, तब कहीं साधकके हृदयमें भक्ति-चेष्टा प्रकाशित होती है।

ज्ञानके प्रयासकी गति

श्रीगीतामें भगवान्का यह उपदेश है—

मय्यावेश्य मनो ये मां नित्ययुक्ता उपासते।
श्रद्धया परयोपेतास्ते मे युक्ततमा मताः॥
ये त्वक्षरमनिर्देश्यमव्यक्तं पर्युपासते।
सर्वत्रगमचिन्त्यञ्च कूटस्थमचलं ध्रुवम्॥
संनियम्येन्द्रियग्रामं सर्वत्रसमबुद्धयः।
ते प्राप्नुवन्ति मामेव सर्वभूतहिते रताः॥
क्लेशोऽधिकतरस्तेषामव्यक्तासक्तचेतसाम्।
अव्यक्ता हि गतिर्दुःखं देहवद्भिरवाप्यते॥

(गीता १२।२-५)

भावार्थ यह कि शरणागतिके लक्षणोंसे युक्त अतिशय श्रेष्ठ-श्रद्धाके साथ जो मेरी उपासना करते हैं, वे युक्ततम हैं अर्थात् सर्वोत्तम योगी हैं। परन्तु इन्द्रियोंके समूहको भलीप्रकार वशमें करके सर्वत्र समबुद्धिसे युक्त होकर जो अक्षर (अविनाशी) मन-बुद्धिसे परे अनिर्देश्य, सर्वव्यापी, अव्यक्त, कूटस्थ, अचल, निराकार और निर्विशेष ब्रह्मकी उपासना करते हैं, वे ज्ञान-प्रयासी हैं। सुतरां यदि उनके हृदय में सम्पूर्ण भूतोंके प्रति दयाका भाव रहे तो वे इसी गुणके कारण अनेक परिश्रम और कष्टके बाद भगवद्भक्तोंकी कृपा लाभ कर अन्तमें मुझको (कृष्णको) प्राप्त होते हैं। इस शेषोक्त-उपासनामें अतिशय कष्ट झेलने पड़ते हैं। साथ-ही-साथ विलम्ब भी बहुत होता है। यह रही, ज्ञान-प्रयासकी गति। अब कर्म-प्रयास की गति पर विचार करें।

कर्म-प्रयासका फल

कर्म-प्रयासकी भी वही गति है जो गति ज्ञान-प्रयासकी होती है। इससे भी कल्याणकी प्राप्ति नहीं हो सकती। इस विषयमें श्रीमद्भागवतका विचार यों है—

धर्मः स्वनुष्ठितः पुंसां विष्वक्सेन-कथासु यः।
नोत्पादयेद् यदि रतिं श्रम एव हि केवलम्॥

(श्रीमद्भ० १।२।८)

धर्म—वर्णाश्रमके अन्तर्गत कर्म-काण्डीय स्वधर्म का बोधक है। इस स्वधर्मका ठीक-ठीक अनुष्ठान करने पर भी यदि मनुष्यके हृदयमें भगवत्कथाओं के प्रति अनुरागका उदय न हो तो केवल प्रयास अर्थात्

निरा श्रम-ही श्रम है। अतएव ज्ञान-प्रयासकी तरह कर्म-प्रयास भी भक्तिका विरोधी है।

भक्तिके अनुकूल कर्म--प्रयास नहीं हैं

सिद्धान्त यह है कि कर्म और ज्ञानके प्रयास नितांत अहितकर हैं, किन्तु जीवन-यात्राका सुचारु रूपसे निर्वाह करनेके अभिप्रायसे यदि कोई भक्त वर्णाश्रम-धर्मगत कर्मोंको स्वीकार करते हैं तो वे कर्म भक्तिके अनुकूल होनेसे भक्ति ही माने जाते हैं। इन कर्मोंको अब कर्मकी संज्ञा नहीं रहती। परिनिष्ठित भक्तजन केवल लोक-संग्रहके लिए भक्तिके अविरोधी कर्मोंका आचरण करते हैं। निरपेक्ष भक्तजन लोकापेक्षा त्याग कर केवल भक्तिके अनुकूल क्रियाओंका ही आचरण करते हैं।

ज्ञान-प्रयास और उसके अन्तर्गत सायुज्यके मुक्तिका प्रयास—ये दोनों परमार्थके नितान्त विरोधी हैं। अष्टाङ्ग योगका प्रयास यदि विभूति और कैवल्यको लक्ष्य करता है, तो वह भी विरोधी है। भक्ति-साधक-विधि और अचिन्त्यभेदाभेद सम्बन्ध-ज्ञान जीवोंके लिए अतिशय सहज होनेके कारण 'प्रयास शून्य' कहे गए हैं। इस प्रकार कर्म और ज्ञान उपाय-स्वरूप तो आदरणीय हैं, किन्तु उपेयके रूपमें सर्वथा उपेक्षणीय हैं। 'नियमाग्रह' नामक निबन्धमें इसका विस्तृत विवेचन किया जायगा।

सत्संगके लिए तीर्थ-यात्रा, वैष्णव-सेवन, अर्चन और संकीर्त्तन आदि—व्यर्थ प्रयास नहीं हैं

तीर्थ-यात्राका परिश्रम भी निरा श्रम-ही-श्रम है, साथ ही वह भक्तिका विरोधी प्रयास भी है। परन्तु वही तीर्थयात्रा यदि सत्सङ्गकी प्राप्तिके लिए कृत हो अथवा कृष्ण-लीला स्थलियोंमें कृष्णोद्दीपक भावोंके अनुशीलनकी लालसासे हो तो ऐसी तीर्थ-यात्रा भक्तिका एक अङ्ग है, व्यर्थ-प्रयास नहीं। फिर भक्तिके अङ्गके रूपमें जिन व्रतोंका पालन किया जाता है, वे भी व्यर्थ प्रयास नहीं हैं। अथवा वैष्णव-सेवाके लिए जो प्रयत्न किये जाते हैं, वे भी व्यर्थ-प्रयास नहीं हैं, क्योंकि सत्सङ्गकी लालसासे ही असत्सङ्गकी लिप्साका दोष निवारित होता है। अर्चनका प्रयास हृदयका उच्छ्वासरूप सहज धर्म है। संकीर्त्तन आदिका प्रयास केवल खुले हुए हृदयसे प्रभुका नामोच्चारण है—अतः ये नितान्त सहज वस्तु हैं। इसलिए इन्हें प्रयास नहीं कहा जा सकता।

वैराग्यका प्रयास नितांत अनावश्यक है

वैराग्य-प्रयासकी तनिक भी आवश्यकता नहीं है, क्योंकि भक्तिके उदय होने पर कृष्णेतर वस्तुओंके प्रति साधककी स्वतः विरक्ति पैदा हो जाती है। श्रीमद्भागवतका उपदेश है—

> वासुदेवे भगवति भक्तियोगः प्रयोजितः।
> जनयत्याशु वैराग्यं ज्ञानञ्च यदहैतुकम्॥
>
> (श्रीमद्भा० ३।३२।२३)

—भगवान वासुदेवके प्रति किया हुआ भक्तियोग तुरन्त ही संसारसे वैराग्य अर्थात् प्रयासशून्य वैराग्य और अहैतुक-ज्ञान अर्थात् नित्यसिद्ध भगवद्दास्यात्मक-ज्ञान उत्पन्न करता है। इसलिए कर्म, ज्ञान और वैराग्यके प्रयासोंको परित्याग कर भगवद्भक्तिके साधनमें प्रवृत्त होनेसे भक्तिबाधक ज्ञान, कर्म, योग अथवा वैराग्य साधक जीवको अधःपतित नहीं करते।

भक्तिकी प्रयास-शून्यता

अतएव श्रीमद्भागवतमें "भक्तिः परेशानुभवो विरक्तिरन्यत्र चैष त्रिक एककालः" (भा० ११-२-४२) श्लोकमें यह निरूपण कर दिया गया है कि जो मनुष्य अनन्य भावसे भगवद्भजन करने लगता है उसके हृदयमें भक्ति, सम्बन्ध-ज्ञान और भगवान्के अतिरिक्त अन्य वस्तुओंके प्रति वैराग्य—ये तीनों एक ही समयमें उदित होते हैं। जिस समय भक्त अतिशय दीन-हीन होकर सरलतापूर्वक कृष्णनामका कीर्तन और स्मरण करता है, उस समय उसके हृदयमें ये भावनाएँ स्वाभाविकरूपमें उदित होती हैं—'मैं विराट चेतनका एक क्षुद्र कणमात्र हूँ, मैं कृष्णका नित्यदास हूँ; कृष्ण हमारे नित्य प्रभु हैं, कृष्णके चरणोंमें शरणागति ही मेरा स्वभाव है, यह संसार

मेरा पान्थनिवास मात्र है, संसाररूपी पान्थनिवासकी किसी भी वस्तुके प्रति आसक्त होना मेरे लिये हानिकारक है।' इसका परिणाम यह होता है कि अत्यन्त शीघ्रही साधक सिद्धि प्राप्त करलेता है।

विविध प्रकारके प्रयासोंकी तालिका

ज्ञान-प्रयास, कर्म-प्रयास, योग-प्रयास, मुक्ति-प्रयास, संसार-प्रयास, असत्संगका प्रयास—ये सब प्रयास नामाश्रित साधकके लिये विरोधी तत्त्व हैं। इन प्रयासोंसे भजन नष्ट होता है। प्रतिष्ठा प्राप्ति का प्रयास इनसे भी अधिक खतरनाक होता है। यह अत्यन्त हेय होनेपर भी बहुतोंके लिए अपरिहार्य हो पड़ता है। भक्तिद्वारा इस सर्वतोभावेन दूर करना कर्त्तव्य है। श्रीसनातन गोस्वामीजीने लिखा है—

सर्वत्यागेऽप्यहेयायाः सर्वानर्थभुवश्च ते।
कुर्युः प्रतिष्ठाविष्ठाया यत्नमस्पर्शने वरम्॥

(हरिभक्तिविलास)

यह उपदेश अतिशय गंभीर है। भक्तजन खूब सावधानीसे इस एकान्ती-धर्मका पालन करेंगे।

गृही-वैष्णवोंका प्रयास-शून्य भजन

साधकको भक्तिके अनुकूल सहज क्रियाओं द्वारा जीवन-यात्रा निर्वाह करते हुए सम्बन्ध-ज्ञानके साथ हरिनाम कीर्तन और स्मरण करना चाहिये। गृही और गृहत्यागियोंके लिए प्रयास-शून्य भजनकी प्रणाली दो प्रकारकी होती है। गृहाव्यक्ति वर्णाश्रमको भक्तिके अनुकूल कर जीवन-यात्रा निर्वाह करता हुआ प्रयास-शून्य हुआ भक्तिका साधन करे संचय और उपार्जन ऐसा होना चाहिये कि कुटुम्बका भरण-पोषण अनायास ही किया जा सके। हरि भजन हमारे जीवनका एकमात्र उद्देश्य है—इसे कभी नहीं भूलना चाहिये। ऐसा होनेसे पतन होनेकी संभावना नहीं रहती। सोते-जगते, चलते-फिरते, सुख-दुःखमें सदा सर्वदा भजना होता रहेगा और कुछ ही दिनोंमें उनका भजन सिद्ध हो जायगा।

त्यागी वैष्णवोंका प्रयासरहित भजन

गृहत्यागी भक्तोंको बिलकुल संचय नहीं करना चाहिए। नित्यप्रति जो कुछ भिक्षा मिले उसीसे सन्तुष्ट रह कर शरीर-यात्राका निर्वाह करते हुए भक्तिका साधन करना चाहिए। किसी प्रकारके उद्यममें प्रवेश करना दोषजनक है। दीनता और सरलतासे जितना ही अधिक भजन किया जायगा, कृष्णकी कृपासे कृष्णतत्त्व उतने ही अधिक रूपमें साधकके हृदयमें प्रकाशित होगा। श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं—

तत्तेऽनुकम्पां सुसमीक्षमाणो
भुञ्जान एवात्मकृतं विपाकम्।
हृद्वाग्वपुर्भिर्विदधन्नमस्ते
जीवेत यो मुक्तिपदे स दायभाक्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।८)

हे कृष्ण! जो पुरुष क्षण-क्षणपर बड़ी उत्सुकतासे आपकी कृपाका ही भलीभाँति अनुभव करता रहता है और प्रारब्धके अनुसार जो कुछ सुख या दुःख प्राप्त होता है उसे निर्विकार मनसे भोग लेता है एवं जो प्रेमपूर्ण हृदय, गदगद वाणी और पुलकित शरीरसे अपनेको आपके चरणोंमें समर्पित करता रहता है—इस प्रकार जीवन व्यतीत करनेवाला पुरुष ठीक वैसे ही आपके परम पदका अधिकारी हो जाता है जैसे अपने पिताकी सम्पत्तिका पुत्र।

ज्ञानादि प्रयासोंसे कुछ भी लाभ नहीं होता। केवल मात्र तुम्हारी कृपासे ही तुमको यथार्थरूपमें जाना जा सकता है। ब्रह्माजी फिर कहते हैं—

अथापि ते देव पदाम्बुजद्वय-
प्रसादलेशानुगृहीत एव हि।
जानाति तत्त्वं भगवन् महिम्नो
न चान्य एकोऽपि चिरं विचिन्वन्॥

(श्रीमद्भा० १०।१४।२९)

अतएव दीन-हीन होकर हरिनाम ग्रहणसे भगवत्कृपासे साधक भक्तके हृदयमें सहज ही बिना किसी प्रयासके ही भगवत्तत्त्व प्रकाशित हो जाता है, जिसे स्वतन्त्र ज्ञानके प्रयासके द्वारा चिरकाल में भी नहीं प्राप्त किया जा सकता है।

ॐविष्णुपाद श्रीमद्भक्तिविनोद ठाकुर

भक्त ठाकुर हरिदास

"हे भगवन्! मुझे मारनेवाले इन भूले-भटके जीवोंको अपराधसे मुक्त करो, इन्हें क्षमा करो, इन पर दया करो।"

ठाकुर हरिदासके ये शब्द भक्ति साहित्यके अमर वाक्य हैं। भक्ति साहित्य ऐसे महान् भक्तोंपर सदैव गर्व अनुभव करता रहेगा।

भक्त ठाकुर हरिदासका जन्म यशोहर जिलान्तर्गत 'बूढ़न' नामक ग्राममें एक अत्यन्त गरीब परिवार में हुआ था। इनके माता-पिता यवन जातिके थे। ऐसा मान जाता है कि इनके जन्मके उपरान्त ही इनके पिता-माताका देहान्त हो गया था।

यवन कुलोत्पन्न होनेपर भी बाल्यकालसे ही महात्मा हरिदासजीमें श्रीहरिनामके प्रति अलौकिक निष्ठा एवं स्वाभाविक प्रीति थी। लड़कपनमें ही इन्होंने घरबार परित्याग करके बेनापोल नामक एक निर्जन स्थानमें रह कर भजन करना आरंभ कर दिया। ये बड़े ही विनम्र तथा शान्त प्रकृतिके साधु थे। इनके तेज और प्रभावसे वहाँ अलौकिक शान्ति विराजती थी। हरिदासजी प्रति-दिन तीन लाख हरिनामका जोर-जोरसे कीर्तन किया करते थे। जोरसे कीर्तन करनेका उद्देश्य था कि हरिनामका अमृत प्रत्येक श्रोताके हृदयको—चाहे वह श्रोता स्थावर या जङ्गम कोई भी प्राणी क्यों न हो-पवित्र करता हुआ उन्हें भव-सागरसे पार कर श्रीकृष्ण प्रेममें सराबोर कर दे।

ये परम विरक्त महात्मा थे। अपने पास कुछ भी संग्रह नहीं करते थे। यहाँ तक कि जल-पात्र—कमण्डलु भी अपने पास नहीं रखते थे। भूख लगने पर गाँवोंसे भिक्षा कर लेते, उसे भी दिन-रात्रिमें केवल एक ही बार खाते और निरंतर हरिनाम संकीर्तनमें मस्त रहा करते।

एकान्त वास करते हुए भी इनके प्रभावकी ख्याति दूर-दूर तक स्वयं फैलने लगी। यह स्वाभाविक है कि जिनका यश संसारमें अधिक फैलता है, उनके विरोधियोंकी तथा प्रतिद्वन्द्वियोंकी भी संख्या कम नहीं रहती।

ठाकुर हरिदास भी इसके अपवाद न रहे। जिस समय इनका यश और हरि-संकीर्त्तनकी ध्वनि दूर-दूर तक प्रतिध्वनित हो रही थी, उस समय यवनोंका शासन काल था। इसलिए इस समय हिन्दू धर्मको किसी प्रकारका प्रोत्साहन मिलना तो स्वप्नवत् था ही, साथ-साथ इसे हर प्रकारसे समूल नष्ट करनेकी चेष्टाएँ भी की जाती थीं।

इन्हीं दुष्टजनोंमें रामचन्द्र खाँ नामक एक बड़ा भारी जमींदार भी था। जब उसने देखा कि ठाकुर हरिदासका यश दूर-दूर तक फैल रहा है, बड़े-बड़े धनी-मानी और ब्राह्मण तक इन पर श्रद्धा करते हैं तो वह किसी प्रकार उन्हें नीचा दिखानेकी युक्ति सोचने लगा। संसारमें बड़े-बड़े ऋषि-मुनियोंने भी कामिनीका लोभ संवरण करनेमें अपनेको असफल पाया है। काँचनका मोह द्वितीय श्रेणीमें आता है।

रामचन्द्रखाँने भी एक अत्यन्त रूपवती षोडश-वर्षीया वेश्याको सिखा-पढ़ा कर, हरिदासकी साधनाको नष्ट करनेके लिये उनकी कुटिया पर भेजा। किन्तु 'जाको राखे साईयाँ'—जिस भक्तकी रक्षा 'स्वयं हरि' करते हों, तुच्छ संसारी जीव उसका बाल बाँका भी नहीं कर सकता। उस वेश्याने अपने रूप-यौवनके मद-में यह प्रण कर लिया था कि वह हरिदासको पतित करके ही छोड़ेगी।

रूप-गर्विता वाराङ्गना हरिदास ठाकुरकी कुटिया पर पहुँची। रातका समय, सुनसान जङ्गल, हरिदास-की चढ़ती हुई युवावस्था, एकान्त शान्त स्थान, परम रूपवती रमणी, और वह भी हरिदासको पतित करने पर तुली हुई। किन्तु धन्य है वह महान् त्याग! धन्य है वह अपूर्व वैराग्य!! और धन्य है वह अद्भुत

इन्द्रिय संयम !!! उस परम विरक्त महात्माके हृदयमें तनिक भी विकार उत्पन्न न हुआ और न हुआ। उनका श्रीकृष्णनाम कीर्त्तन जो चल रहा था, वह तैलधारावत् अविच्छिन्न गतिसे चलता रहा। वेश्याने अनेक कुचेष्टाएँ की। हरिदास ठाकुरने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'देवि! मैंने एक कोटि नाम-यज्ञका संकल्प किया है। नाम पूरा होने तक प्रतीक्षा करो, तुम्हारी मनोकामना अवश्य पूरी होगी।'

नाम समाप्त होनेकी आशामें वाराङ्गना चुप-चाप बैठी रही। रात बीतनेको आयी, किन्तु हरिदासका नाम पूरा न हो सका। प्रातःकाल हुआ। तीन दिन बीत गये। वेश्या रोज शामको आती और प्रातःकाल निराश होकर लौट जाती। हरिदास ठाकुर प्रतिदिन बड़ी ही नम्रतासे कहते—"तुमको बड़ा कष्ट हुआ। जरा बैठो, मेरे नामकी संख्या पूरी होने दो।"

चौथे दिन वह फिर हरिदास ठाकुरकी कुटिया पर पहुँची। चार दिनोंतक निरन्तर शुद्ध कृष्णनामका श्रवण करते-करते उसके सारे पाप ध्वंस हो चुके थे। उसका हृदय परिवर्त्तन हो चुका था। पश्चात्तापकी अग्नि उसे बेतरह जला रही थी। वह रोते-रोते हरिदासके पैरोंपर गिर पड़ी और बोली—'प्रभो! मेरा उद्धार करो। मैं बड़ी पापिनी हूँ, एक अधम वेश्या हूँ। भगवन्! मेरे पापोंका प्रायश्चित्त क्या है? आप पतितपावन हैं, बतलाइये, मैं क्या करूँ?' इतना कहते-कहते वह हरिदास ठाकुरके चरणोंपर लोटने लगी।

हरिदास ठाकुरने उसे सान्त्वना देते हुए कहा—'घर जाकर अपना सर्वस्व दान कर दो और तुलसी देवीकी सेवा करते हुए प्रतिदिन तीन लाख हरिनामका संकीर्तन करो। चिन्ता न करो, भगवान् तुम्हारा भला करेगा। मैं तो यहाँसे कभीका चला गया होता, केवल तुम्हारे लिये ही रुका था।'

वेश्या उसी क्षण अपना धन-धाम सर्वस्व दानकर तपस्विनी बन गयी। यह है सत्सङ्ग और हरिनामके श्रवणका प्रभाव।

वेश्याका उद्धार कर हरिदास बेनापोलसे चाँदपुर चले गये और बलराम आचार्यके घर पर रहने लगे। बलराम आचार्य उसी गांवके जमींदारके पुरोहित थे। जमींदारका नाम हिरण्य मजुमदार था। व्रजके प्रसिद्ध सन्त रघुनाथदास गोस्वामी इन्हींके छोटे भाई गोवर्द्धन मजुमदारके पुत्र थे।

एक दिन हिरण्य मजुमदारकी सभामें हरिनाम माहात्म्यकी चर्चा चल रही थी। किसीने हरिनामका फल मुक्तिको बतलाया, तो किसीने पाप-क्षयको। हरिदास ठाकुर भी उस दिन उस सभामें उपस्थित थे। उन्होंने बड़ी ही नम्रतासे कहा—'पापोंका नाश और मुक्तिकी प्राप्ति हरिनामका फल नहीं हैं। ये तो नामाभासके फल हैं। ये बहुत ही तुच्छ वस्तुएँ हैं। शुद्ध हरिनामका फल इससे कहीं अनन्त गुना बढ़ कर होता है और वह फल है—श्रीकृष्ण-प्रेमकी प्राप्ति।'

'ये कोरी भावुकताकी बातें हैं। कोटि-कोटि जन्मोंमें ब्रह्मज्ञान होनेपर भी जो मुक्ति नहीं पायी जाती, नामाभास द्वारा भला वह कैसे प्राप्त हो सकती है?' गोपाल चक्रवर्ती नामक एक ब्राह्मण कर्मचारीने हरिदास ठाकुरके कथनका प्रतिवाद किया।

'भाई! आप सन्देह न करें। यह मेरी अपनी बात नहीं। समस्त शास्त्रोंने इस कथनका प्रतिपादन किया है। भक्तिके सामने मुक्ति नितांत हेय वस्तु है, इसलिये भक्तजन मुक्ति नहीं चाहते।' हरिदास ठाकुरने शास्त्रीय वचनोंके आधार पर दृढ़तासे अपने कथनकी पुष्टि की।

'मैं नहीं मानता।' गोपाल चक्रवर्तीने चिल्लाकर उत्तर दिया। 'यदि ऐसा न हुआ तो क्या आप अपनी नाक कटवा लेंगे?'

'अवश्य। यदि नामाभाससे मुक्ति न हो तो मैं अवश्य ही अपनी नाक कटवानेके लिये प्रस्तुत हूँ।' हरिदास ठाकुर भी कुछ जोशमें आ गए।

सभी लोग हाहाकार कर उठे और ब्राह्मणको धिक्कारने लगे। हिरण्य मजुमदारने उस ब्राह्मणको वैष्णव-विद्वेषी समझकर तुरन्त नौकरीसे बरखास्त कर दिया। उधर तीन दिन बीतते न बीतते ही

ब्राह्मणको गलित कुष्ठ हो गया और उसकी नाक गलकर चू पड़ी।

इस घटनासे हरिदासजी बड़े दुःखित हुए और वहाँसे शान्तिपुर चले गए। वहाँ पर वे श्रीअद्वैताचार्य नामकप्रसिद्ध विद्वान् वैष्णवके यहाँ रहने लगे। दोनोंमें बड़े प्रेमसे हरिचर्चा होती। श्रीअद्वैताचार्यजी श्रीमद्भागवत आदि धार्मिक ग्रन्थोंका पाठ करके इन्हें सुनाया करते। आचार्यने अपने गाँवके पास ही फुलिया नामक निर्जन स्थानमें इनके लिये एक गुफा बनवा दी थी। ये दिन-रात उसी गुफामें रहकर निरन्तर हरिनाम कीर्तन किया करते, केवल भोजन करनेके लिये ही आचार्यके घर पर आते।

मुसलमान शासन-काल होनेके कारण उन्हें बार-बार यातनाएँ सहनी पड़ीं। हरिदासजीको यवन कुलमें आविर्भूत होकर भी शुद्ध वैष्णवोंका सा आचरण करते देखकर यवनलोग इनसे बड़ा डाह रखते थे। इसलिए वहाँके अधिकारी गोराई काजीने इन्हें गिरफ्तार करवाकर अदालतके समक्ष उपस्थित किया। न्यायाधीशने उन पर हर-प्रकारसे जोर डालते हुए कहा—'तुम मुसलमान हो, तुम्हें हिन्दू-आचरण शोभा नहीं देता। इसलिए तुम कलमा पढ़ लो और मुसलमान बन जाओ।'

हरिदास ठाकुरने विनयपूर्वक उत्तर दिया—'ईश्वर एक है। हिन्दू और मुसलमान उसीको विभिन्न नामोंसे पुकारते हैं। वही समस्त प्राणियोंको अन्तरात्माके रूपमें प्रेरणा देता है और उसीकी इच्छासे ही प्राणी सब कुछ करता है। मुझे जैसा अच्छा लगता है, वैसे ही याद करता हूँ। इसमें आपको आपत्ति नहीं होनी चाहिए।'

न्यायाधीश उनकी युक्तिको सुनकर मन-ही-मन सन्तुष्ट हुआ, किन्तु काजी बिना दण्ड दिलाये कब माननेवाला था? उसने न्यायाधीशसे कहा—'यदि इसे दण्ड न दिया गया तो तमाम मुस्लिम जनता हिन्दू हो जायगी और इस्लामधर्मका सत्यानाश हो जायगा।' अब हरिदासठाकुरके सामने दो ही पथ थे, एक तो हिन्दुत्व छोड़कर इस्लामधर्म ग्रहण करना अथवा कठोर दण्ड भोगना। न्यायाधीशने मुसलमान होनेके लिये बहुत ही दबाव डाला तथा डराया धमकाया, किन्तु हरिदास ठाकुरने दृढ़तासे कहा—

'खण्ड खण्ड हई' देह, याय यदि प्राण।
तबु आमि बदने ना छाड़ि हरिनाम॥

फिर क्या था, न्यायालयकी ओरसे नंगे बदन पर नवद्वीपके बाईस बाजारोंमें कोड़ेसे मारते हुए प्राण दण्डकी सजाका हुकुम सुना दिया गया। निष्ठुर राजकर्मचारियोंने उन्हें क्रमसे एक-एक बाजारमें पीटना आरम्भ किया। उनका शरीर लहू-लुहान हो गया। तभी उन महात्माके मुखसे ये शब्द निकले—"हेभगवन्! मुझे मारनेवाले इन भूले-भटके जीवोंको अपराधसे मुक्त करो, इन्हें क्षमा करो, इन पर दया करो।" इतने पिटे जाने पर भी जब इनके प्राण नहीं निकले तो पीटनेवाले बड़े विस्मित हुए और सोचने लगे कि 'अब क्या किया जाय? यदि यह न मरा तो हमारे प्राण लिये जायेंगे। तब हरिदास ठाकुर जान-बूझकर समाधिस्थ हो गये। उन लोगोंने उनको मरा हुआ जानकर गङ्गामें प्रवाहित कर दिया। वे बहते-बहते फुलिया ग्रामके निकट जा लगे। लोगोंने इन्हें देखकर बाहर निकाला। जलसे बाहर निकलते ही समाधिसे जग पड़े और पुनः अपनी गुफामें लौट आए। इस घटनाका काजी और न्यायाधीश पर बड़ा प्रभाव पड़ा। उन्होंने अपने कुकर्मोंके लिए हरिदाससे क्षमा माँगी और आइन्देसे उनके धर्म-पालनमें किसी प्रकारकी बाधा न देनेका वचन दिया।

इसी समय श्रीचैतन्य महाप्रभु नवद्वीपमें हरिनाम की सुधा बरसा रहे थे। महात्मा हरिदासने भी उनके संकीर्त्तनमें योगदान किया। श्रीचैतन्य महाप्रभुकी आज्ञासे श्रीनित्यानन्द प्रभु और हरिदास ठाकुर संकीर्तन करते हुए कृष्णनामका प्रचार करने लगे।

इसके उपरान्त जब श्रीचैतन्य महाप्रभुजी संन्यास ग्रहण कर जगन्नाथपुरी चले आये, तब हरिदास ठाकुर भी उन्हींकी आज्ञासे श्रीजगन्नाथजीके पुष्प उद्यानमें एक कुटिया बना कर वहीं भजन करने

लगे। जिस स्थानपर हरिदास ठाकुर भजन करते थे, आजकल वह स्थान 'सिद्ध-बकुल' के नामसे प्रसिद्ध है।

इनके महाप्रयाणके समय अपने प्रधान प्रधान भक्तोंके साथ श्रीचैतन्य महाप्रभुजी स्वयं वहाँ उपस्थित थे। महाप्रयाणके बाद महाप्रभु इनके शरीरको गोदमें लेकर नृत्य करने लगे। अन्तमें एक सुन्दर विमान बनाकर उसपर उनका शरीर रखा गया और संकीर्त्तन के साथ समुद्रके तीर पर लाया गया। महाप्रभुने स्वयं अपने हाथोंसे वहीं पर उन्हें समाधिस्थ कर दिया।

इस प्रकार अन्तिम समय तक हरिदास ठाकुरने 'श्रीकृष्ण चैतन्य' नामका उच्चारण करते-करते सपार्षद श्रीचैतन्यदेवके सामने ही पुरुषोत्तम धामको महाप्रयाण किया।

—श्रीमती शकुन्तला त्रिपाठी

नव-भारतमें शक्ति-तत्त्व

दिल्लीसे प्रकाशित १३ अक्टूबर, १९५६ के "नव-भारत टाइम्समें" श्रीबच्चन श्रीवास्तव द्वारा लिखित "भारतीय वाङ्मयमें शक्ति" शीर्षकमें लिखित एक निबन्धको पढ़ कर बहुत ही विस्मित हुआ। आपने लिखा है—(क) 'वैष्णव सम्प्रदायके आधार मूलग्रन्थ श्रीमद्भागवतमें योगमायाके रूपमें शक्तिके ही दर्शन होते हैं। श्रीकृष्ण-जन्मके समय स्वयं नारायण योगमायासे प्रार्थना करते हैं कि राक्षसोंके संहारमें वह उनकी सहायता करें। नारायण शक्तिसे प्रार्थना करते हैं कि वह स्वयं वृन्दावन निवासी वासुदेवकी पत्नी यशोदाकी कोखमें जन्म लेकर कंसका नाश करें।'

(ख) "बङ्गला रामायणमें स्वयं श्रीरामद्वारा शक्ति की उपासना का वर्णन मिलता है। जब श्रीराम रावण को पराजित करनेमें सफल नहीं हुए, तो वे स्वयं शक्तिकी पूजा आरंभ करते हैं। पूजाके प्रत्येक चरण में एक-एक नील-कमल शक्तिके चरणोंमें अर्पित करते-करते वह साधनाके अन्तिम चरणमें पहुँचते हैं। किन्तु जब अन्तिम कमल अर्पित करनेको हाथ बढ़ाते हैं, तो कमल नहीं मिलता। कारण स्वयं देवीने उसे अदृश्य कर दिया था। किन्तु राम तब भी निश्चित करते हैं कि वह अपना एक नेत्र देवीके चरणोंमें अर्पित कर देंगे। कारण नेत्र नील-कमलके प्रतीक हैं। किन्तु ज्योंही राम अपना नेत्र निकालनेको होते हैं कि देवी प्रकट होकर रामको विजयका वरदान देती हैं।"

इस प्रसङ्गमें हमारा वक्तव्य यह है कि श्रीवास्तवजीने श्रीमद्भागवतका स्वयं अनुशीलन न करनेके कारण भ्रमवशतः ऐसी मनगढ़न्त बातें लिख मारी हैं अथवा शाक्त सम्प्रदायके आनुगत्यमें एक प्रसिद्ध सत्यको आच्छादित करनेका व्यर्थ प्रयास किया है, कुछ समझ न सका। शक्तिके सम्बन्धमें उपर्युक्त दोनों विचार ही पूर्ण रूपसे शास्त्र-विरुद्ध और अयुक्ति-संगत हैं। आजकल लेखकोंकी भरमार है। भाषा जरा शुद्ध और रोचक होनी चाहिये, चाहे उसमें कोई सचाई रहे अथवा न रहे। श्रीमद्भागवत और गीताका नाम लेकर अंट-संट चाहे जो चाहा लिख मारा—देखने ही कौन जाता है? बस सफल साहित्यिक बन बैठे।

सच्चा साहित्य तो उसे कहा जा सकता है जो स + हित = हितके सहित वर्त्तमान रहे अर्थात् जिससे सच्चा कल्याण प्राप्त हो सके। वह साहित्य साहित्य नहीं, जिससे मानव गुमराह हो, जिससे अज्ञानकी तहें और भी गहरी होती जायें। ऐसे साहित्योंसे हमें हर संभव बचनेकी चेष्टा करनी चाहिये क्योंकि इससे व्यक्ति और समाज दोनोंका अहित होता है। हम लेखककी उपर्युक्त दोनों उक्तियोंके सम्बन्धमें शास्त्र-प्रमाण और युक्तियोंके आधार पर संक्षेपमें पृथक्-पृथक् विचार करेंगे।

(क) आप लिखते हैं—"नारायण शक्तिसे प्रार्थना

करते हैं कि वह स्वयं वृन्दावन निवासी वासुदेवकी पत्नी यशोदाकी कोखमें जन्म लेकर कंसका नाश करें।'—जो पूर्णरूपसे निराधार, मनःकल्पित और सम्पूर्ण भ्रान्ति कथन मात्र है। हमें सर्वप्रथम यह जाननेकी आवश्यकता है कि वसुदेव, वासुदेव और यशोदा हैं कौन? साथ ही योगमायाका परिचय भी जान लेना आवश्यक है।

यह प्रसंग कृष्ण-जन्मके समयका है। इस समय नन्दबाबा व्रजके अन्तर्गत गोकुलमें रहते थे। यशोदा-देवी—इन्हीं नन्दबाबाकी पत्नी हैं। श्रीमद्भागवतके अनुसार योगमाया इन्हीं यशोदा मैयाके गर्भसे आविर्भूत हुई थीं, पीछेसे वसुदेव महाराज द्वारा मथुराके कारागारमें लायी गयीं थीं। कंसकी चचेरी बहिनका नाम देवकी था। देवकीका विवाह वसुदेव-जीके साथ हुआ था। कंसने इस दम्पतिको कारागार में बन्द कर दिया था। वहीं पर वासुदेव (कृष्ण) इन्हीं वसुदेवजीके पुत्रके रूपमें आविर्भूत हुए थे। वासुदेव—भगवानका एक नाम है जो वसुदेवके पुत्ररूप-में जन्म लेनेसे हुआ है—'वसुदेवस्य अपत्यमित्यर्थेऽण।' अथवा जो समस्त भूतोंमें अन्तरात्माके रूपमें निवास करते हैं और समस्त भूत जिनमें निवास करते हैं, उन भगवान् श्रीकृष्णको वासुदेव कहा जाता है—'वसति सर्वत्र यद्वा वासयति सर्वाम् आत्मकुक्षि मध्ये इति वासुदेवः।'

भगवान् अविचिन्त्य शक्तिके आधार हैं। उस अविचिन्त्य शक्तिका नाम परा या स्वाभाविकी शक्ति है। परा-शक्ति एक होनेपर भी उसकी विविध प्रकारकी क्रियाएँ होती हैं। और उन क्रियाओंके अनुसार उसके अनेक नाम हैं—'परास्य शक्ति विविधैव श्रूयते।' भगवान्की लीला-पुष्टि-कारिणी पराशक्तिका नाम ही योगमाया है। महामाया, दुर्गा, काली, चण्डिका आदि इसी योगमायाकी छायाशक्तिके नाम हैं, यही छाया-शक्ति अर्थात् दुर्गा इस जड़ जगत्की कर्त्री हैं। ब्रह्म संहितामें दुर्गा-तत्त्वका परिचय इस प्रकार दिया गया है—

सृष्टिस्थिति प्रलयसाधन शक्तिरेका
छायेव यस्य भुवनानि बिभर्त्ति दुर्गा।
इच्छानुरूपमपि यस्य चेष्टते सा
गोविन्दमादिपुरुषं तमहं भजामि॥

(ब्र० स० ४४)

अर्थात् भगवान्की स्वरूपशक्ति—योगमायाकी छाया-स्वरूपा जगत्-पूजिता मायाशक्तिका नाम ही दुर्गा है, जो इस प्रापंचिक जगत्की सृष्टि, स्थिति और प्रलयकारिणी हैं।

अतः अद्वयतत्त्वज्ञान भगवान्की एक ही माया प्रवृत्ति भेदसे दो रूपोंमें प्रकाशित है—योगमाया और महामाया या उन्मुखमोहिनी और विमुखमोहिनी। देवकीके सप्तम गर्भसे बलरामजीको आकर्षण कर रोहिणीमें गर्भमें लाना, जनन कार्यके समय यशोदामाँ-को निद्रित करना—यह सब उन्मुखमोहिनी योगमाया-का कार्य है। और कंसको वंचना करना तथा असुर मोहन आदि कार्य—विमुखमोहिनी जड़माया दुर्गाका है। इस विमुखमोहिनी शक्तिको ही जगत्में दुर्गा, काली, चण्डिका आदि नामोंसे पुकारते हैं। दुर्गा शक्तिसे भगवान्का आन्तर सम्बन्ध नहीं होता, बल्कि प्रापंचिक जगत्की सृष्टि, स्थिति और संहार रूप बाह्य कार्योंसे सम्बन्धित रहनेके कारण इन्हें बहिरंगा-शक्ति भी कहते हैं। भगवान् इन्हें स्पर्श भी नहीं करते। यही तो भगवान्की भगवत्ता है कि वे प्रकृति-में स्थित होकर भी उसके गुणोंसे कभी लिप्त नहीं होते—

'एतदीशनमीस्य प्रकृतिस्थोऽपि तद्गुणैः।'
(श्रीमद्भा० १।११।३८)

तात्पर्य यह कि भगवान शक्तिके आधार हैं। शक्ति भगवान्की किंकरी है, वह भगवानकी इच्छा से ही समस्त कार्योंको करती है। इसी योगमायाने भगवानकी आज्ञासे व्रजमें आविर्भूत होकर उनकी लीलाके कार्योंको सम्पन्न किया था। हम इस प्रसंगको मूल श्रीमद्भागवतसे उद्धृत करते हैं।

ब्रह्माजी देवताओंको सान्त्वना देते हुए कह रहे हैं कि उन्होंने समाधि अवस्थामें आकाशवाणी

सुनी है कि वसुदेवजीके घर स्वयं पुरुषोत्तम भगवान् प्रकट होंगे। भगवान्‌की वह ऐश्वर्यशालिनी योगमाया भी जिसने सारे जगत्‌को मोहित कर रखा है, उनकी आज्ञासे उनकी लीलाके कार्य सम्पन्न करनेके लिये अंशरूपमें प्रकट होंगी—

विष्णोर्माया भगवती यया सम्मोहितं जगत्।
आदिष्टा प्रभुणांशेन कार्यार्थे सम्भविष्यति॥
(श्रीमद्भा० १०।१।२५)

यहाँ 'आदिष्टा' शब्दसे आदेशका बोध होता है—प्रार्थनाका नहीं, जैसा कि लेखकने लिखा है।

और आगे देखिए—

भगवानपि विश्वात्मा विदित्वा कंसजं भयम्।
यदूनां निजनाथानां योगमायां समादिशत्॥
गच्छ देवि ! व्रजं भद्रे गोपगोभिरलंकृतम्।
रोहिणी वसुदेवस्य भार्याऽऽस्ते नन्दगोकुले।
अन्याश्च कंससंविग्ना विवरेषु वसन्ति हि॥
देवक्या जठरे गर्भं शेषाख्यं धाम मामकम्।
तत् संनिकृष्य रोहिण्या उदरे संनिवेशय॥
अथाहमंशभागेन देवक्याः पुत्रतां शुभे।
प्राप्स्यामि त्वं यशोदायां नन्द पत्न्यां भविष्यसि॥
सन्दिष्टैवं भगवता तथेत्योमिति तद्वचः।
प्रतिगृह्य परिक्रम्य गां गता तत् तथाकरोत्॥
(श्रीमद्भा० १०।२।६-९,१४)

—विश्वात्मा भगवान्‌ने देखा कि मुझे ही अपना स्वामी और सर्वस्व माननेवाले यदुवंशी कंसके द्वारा बहुत सताये जा रहे हैं। तब उन्होंने अपनी योगमायाको यह आदेश दिया—'देवि ! कल्याणि ! तुम व्रजमें जाओ। वह प्रदेश ग्वाल-बालों और गौओंसे सुशोभित है। वहाँ नन्द बाबाके गोकुलमें वसुदेवकी पत्नी रोहिणी निवास करती हैं। उनकी और भी पत्नियाँ कंससे डरकर गुप्त स्थानोंमें रह रही हैं। इस समय मेरा वह अंश जिसे शेष कहते हैं, देवकीके उदरमें गर्भरूपमें स्थित है। उसे वहाँसे निकालकर तुम रोहिणीके पेटमें रख दो। कल्याणी ! अब मैं अपने समस्त ज्ञान, बल, आदि अंशों के साथ देवकीका पुत्र बनूँगा और तुम नन्दबाबाकी पत्नी यशोदाके गर्भसे जन्म लेना।' जब भगवान्‌ने इस प्रकार आदेश दिया, तब योगमायाने 'जो आज्ञा'—ऐसा कहकर उनकी आज्ञा शिरोधार्य की और उनकी परिक्रमा करके वे पृथ्वी पर चली आयीं तथा भगवान्‌ने जैसा कहा था, वैसे ही किया।

इससे स्पष्ट प्रतीत होता है कि—

(१) भगवान्‌ने योगमायाको व्रजमें अवतीर्ण होकर अपनी लीलाका कार्य सम्पन्न करनेके लिये प्रार्थना नहीं की थी, प्रत्युत् आज्ञा दी थी।

(२) भगवान्‌ने योगमायाको वृन्दावन निवासी वासुदेवकी पत्नी यशोदाकी कोखमें जन्म लेनेके लिये प्रार्थना नहीं की थी किन्तु भगवान्‌ने योगमायाको व्रजके अन्तर्गत गोकुल निवासी नन्दबाबाकी पत्नी यशोदाके गर्भसे प्रकट होनेके लिए आदेश दिया था।

(३) यशोदा वासुदेव (कृष्ण) की पत्नी नहीं थीं, नन्दबाबाकी पत्नी थीं।

(४) वसुदेव और वासुदेव एक व्यक्ति नहीं। वसुदेवजी कंसकी चचेरी बहिन देवकीके पति थे जिन्हें कंसने कारागारमें बन्दकर रखा था। और वासुदेव—भगवान श्रीकृष्णका एक नाम है, जो वसुदेवके पुत्रके रूपमें भूभार हरणके लिये अवतीर्ण हुए थे।

(५) उन्मुखमोहिनी योगमाया और विमुख-मोहनी महामाया—दुर्गा एक नहीं। दुर्गाशक्ति—भगवान्‌की स्वरूपशक्ति योगमायाकी छायास्वरूप हैं जो इस प्रापंचिक जगत्‌की सृष्टि, स्थिति और प्रलयकारिणी हैं।

(ख) अब लेखकके द्वितीय कथनकी असारता अपने-आप स्पष्ट हो पड़ती है। लेखकने श्रीरामचन्द्र द्वारा शक्तिकी उपासना करवाकर शक्तिकी उत्कर्षता स्थापन करनेका प्रयास किया है। यहाँ यह समझ लेना आवश्यक है कि भगवान् श्रीकृष्ण और श्रीराममें तत्त्वतः कोई भेद नहीं है। ये दोनों अद्वयज्ञान तत्त्व हैं—'श्रीनाथे जानकीनाथे अभेदः परमात्मनि।' अतः

दुर्गा—श्रीरामचन्द्रजीकी बहिरङ्गाशक्ति हैं, और भगवान् श्रीरामकी आज्ञाका पालन करनेवाली किंकरी मात्र हैं। यद्यपि 'शक्ति-शक्तिमतोरभेदः' के अनुसार शक्ति और शक्तिमान अभिन्न हैं। तथापि जहाँ शक्ति शक्तिमानसे पृथक् रूपमें परिलक्षित होती है, वहाँ शक्ति द्वारा शक्तिमानकी आराधना ही स्वाभाविक होती है। शक्तिमान द्वारा शक्तिकी आराधना पूर्णतः अस्वाभाविक और सिद्धान्तके विरुद्ध है। वाल्मीकिकृत मूल रामायण, अध्यात्म रामायण, तथा रामचरित मानस आदि रामचरित्रके प्रामाणिक ग्रन्थोंमें कहीं भी श्रीरामचन्द्र द्वारा दुर्गापूजा का वर्णन नहीं मिलता।

केवलमात्र कृत्तवासी कृत बंगला रामायणमें श्रीरामचन्द्र द्वारा दुर्गाकी आराधनाका उल्लेख पाया जाता है। इसका कारण यह है कि कृत्तवासी शक्तिके उपासक थे। ये एक चतुर कवि थे। उन्होंने सोचा कि यदि रामचरित्रकी आड़में शक्ति उपासनाका प्रचार किया जाय तो भोली-भाली जनतामें अवश्य ही प्रचार हो सकता है। इस प्रकार राम चरित्र वर्णन करनेके मिस् शक्तिका श्रेष्ठत्व स्थापन करनेका प्रयास किया है। इस प्रकार उन्होंने अपना पथ बहुत कुछ सुगम कर भी लिया है। किन्तु याद रखना चाहिये, बंगला रामायण रामचरित्रका प्रामाणिक ग्रन्थ नहीं, बल्कि अर्वाचीन कविता-ग्रन्थ मात्र हो सकता है।

हमारे कथनका तात्पर्य यह नहीं कि शक्तिको हेय माना जाय। बल्कि शक्ति और शक्तिमान दोनोंही उपास्य तत्त्व है। शक्ति और शक्तिमानका का वही सम्बंध है, जो अग्नि और दाहिका शक्तिका है। शक्ति शक्तिमानसे अलग नहीं रह सकती। शक्तिके लिये आधार होना आवश्यक है, भगवान् ही वह आधार हैं। अकेली शक्तिकी उपासना अथवा अकेले शक्तिमान की उपासना निरर्थक है। शास्त्रोंमें ऐसे उपासकोंको नास्तिक और असुर कहा गया है। इसलिये युगल उपासना ही शास्त्रोंका तात्पर्य है।

इस प्रकार श्रीरामचन्द्र द्वारा शक्तिकी उपासना भी अयुक्ति संगत और निराधार ही ठहरती है।

—त्रिदण्डिस्वामी श्रीमद्भक्तिभूदेव श्रौती महाराज

❀ अप्राकृत-वाणी-पुष्प ❀

मैंने बहुतोंको उद्वेग दिया है, छल-प्रपंचरहित निष्कपट सत्यकथा बोलनेके लिए जो बाध्य हुआ हूँ, लोगोंको निष्कपट होकर कृष्ण-भजन करनेके लिए जो परामर्श दिया हूँ, हो सकता है, उससे कुछ लोग मुझे शत्रु भी समझते हों। कृष्णेतर अभिलाषा और कपटताका परित्याग कर कृष्ण-सेवाके प्रति उन्मुख होनेके लिये ही मैंने बहुतोंको नाना प्रकारसे उद्वेग दिया है। इस बातको वे किसी-न-किसी दिन अवश्य समझेंगे।

—श्रीभक्तिसिद्धान्त सरस्वती

श्रील-प्रभुपादेन संगृहीता, श्रील-भक्तिविनोद-ठक्कुरेण संशोधिता परिवर्द्धिता च

श्रीश्रीव्यासपूजा-पद्धतिः

श्रीगणेशाय नमः। श्रीरामचन्द्राय नमः। श्रीगुरुभ्यो नमः।

अथ श्रीव्यासपूजा-पद्धतिर्लिख्यते।

आषाढ्यां पौर्णमास्यां क्षौरं कृत्वा स्नात्वा आचम्य पूजाद्रव्याणि संपाद्य ब्राह्मणैः प्रार्थितः संन्यासी विधिवत् प्राणानायम्य प्रणवन्यासपूर्वकं प्राणायामत्रयं कृत्वा व्यास पूजा करिष्य इति संकल्पः। ॐ प्रणवस्यान्तर्यामी भगवान् ऋषिः इत्यादि। प्रणवेन व्यापकत्रयं, तापत्रयं, अष्टदिग्बन्धनम्। अग्निप्राकाराः, जलप्राकाराः, करन्यासम्, अङ्गन्यासम्। विष्णुर्भास्वत इति ध्यानम्। तदनन्तरं कुंभपूजा—"कलशस्यमुखे ब्रह्मा कण्ठे रुद्रः-समाश्रितः कुक्षौ तु सागराः सर्वे सप्तद्वीप वसुन्धरा॥" 'गङ्गायैः नमः', गोदावर्य्यै नमः' इत्यादि सर्वनदीनामभिः गन्धपुष्पाक्षतादिभिः कलसमभ्यर्च्य शंखपूजां करिष्ये। आवाहन्यादिमुद्रां प्रदर्शयेत्। शंखमापूज्य 'ॐ पुरा सागरोत्पन्नानि इत्यादि शंखमुद्रां प्रदर्श्य शंखजलार्घ्यं कुम्भे निक्षिप्य पुनेरर्घ्यजलेनात्मानं पूजोपकरणानि च प्रोक्ष्य पीठार्च्चनं कुर्यात्। पीठमध्ये शुभवस्त्राणि प्रसार्य शुभतण्डुलैश्चतस्रं स्थण्डिलं कृत्वा पीठमध्ये पुष्पाक्षतैः "कूर्म्माय नमः, मण्डूकाय नमः, कालाग्नि रुद्राय नमः, आधारशक्तये नमः, मूलप्रकृत्यै नमः, भूम्यै नमः, अनन्ताय नमः, पयोनिधये नमः, श्वेतद्वीपाय नमः, कल्पवृक्षवाटिकायै नमः, रत्नमण्डपाय नमः"—इति आसनं संपूज्य, धर्म्माय नमः, अग्निकोणे, ज्ञानाय नमः नैऋतकोणे, वैराग्याय नमः वायव्यकोणे, ऐश्वर्याय नमः ईशान कोणे, अधर्माय नमः ऐन्द्रे, अज्ञानाय नमः याम्ये, अवैराग्याय नमः पश्चिमे, अनैश्वर्याय नमः उत्तरे, पद्माय नमः पीठ मध्ये; एवं धर्मकन्दाय नमः, ज्ञानलीलाय नमः, वैराग्यकर्णिकायै नमः, ऐश्वर्य-अष्टदलाय नमः, द्वादशकलात्मने सूर्यमण्डलाय नमः. षोडशकलात्मने चन्द्रमण्डलाय नमः, दशकलात्मने वह्निमण्डलाय नमः, ॐ रजोगुणाय नमः, ॐ सत्वगुणायनमः, ॐ तमोगुणाय नमः, ॐ आत्मने नमः, ॐ अन्तरात्मने नमः, ॐ परमात्मने नमः, ॐ ह्रीं नमः, ॐ विमलायै नमः; ॐ कमलायै नमः, ॐ उत्कर्ष्यै नमः, ॐ ज्ञानशक्त्यै नमः, ॐ क्रियाशक्त्यै नमः, ॐ योगशक्त्यै नमः, ॐ प्रभवायै नमः, ॐ सत्यायै नमः, ॐ ईशान्यै नमः, मध्ये अनुग्रहायै नमः, ॐ नमो भगवते महाविष्णवे सर्वभूतात्मने वासुदेवाय सर्वात्मसंयोग-योगपद्मपीठात्मने नमः।

पीठमध्ये पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा पीठमध्ये श्रीकृष्णादिपञ्चकं—"ॐ" इति श्रीकृष्णं ध्यात्वा आवाहन्यादिषोडशोपचारं कुर्यात्। अनुष्ठानवत् दशमुद्रां प्रदर्शयेत्।

श्रीकृष्णस्य पुरतः 'ॐ वासुदेवाय नमः' इति षोडशोपचारपूर्विकां पूजां कृत्वा, कृष्णस्य दक्षिणतः 'ॐ संकर्षणाय नमः' इति कृष्णस्य पश्चिमतः 'ॐ प्रद्युम्नाय नमः', कृष्णस्य उत्तरतः 'ॐ अनिरुद्धाय नमः'—इति श्रीकृष्णपञ्चकम्।

श्रीकृष्णस्य दक्षिणे श्रीव्यास पञ्चकम्—मध्ये ॐ श्रीवेदव्यास नमः, पुरस्तात् पैलाय नमः, दक्षिणतो वैशम्पायनाय नमः, पश्चिमतो जैमिनये नमः, उत्तरतः सुमन्तवे नमः,—इति श्रीव्यासपञ्चकम्।

श्रीकृष्णस्योत्तर-भागे आचार्यपञ्चकम्—मध्ये श्रीशुकाचार्येभ्यो नमः इति वैष्णव-सिद्धान्तमतम्। पूर्वतः श्रीरामानुजाचार्येभ्यो नमः, दक्षिणतः श्रीमध्वाचार्येभ्यो नमः, पश्चिमतः श्रीविष्णुस्वामिपादेभ्यो नमः,

उत्तरतः श्रीनिम्बादित्याचार्येभ्यो नमः—इति श्रीआचार्य पञ्चकम् ।

श्रीकृष्णस्य पश्चिम भागे सनकादिपरम्परा-पञ्चकम्-ॐ सनकाय नमः; ॐ सनत्कुमाराय नमः, ॐ सनातनाय नमः, ॐ सनन्दनाय नमः, ॐ विश्वकसेनाय नमः—इति श्रीसनकादिपञ्चकम् ।

श्रीकृष्णस्य पूर्व भागे गुरुपरम्परा पञ्चकम्—श्रीगुरुभ्यो नमः, श्रीपरमगुरुभ्यो नमः, श्रीपरमेष्ठि गुरुभ्यो नमः, ब्रह्मविद्या-सम्प्रदाय-कर्त्तारः-इति श्रीगुरुपञ्चकम् ।

अग्निकोणे अग्निः, नैर्ऋतकोणे निर्ऋतिः, वायव्यकोणे वायुः, ईशाणकोणे ईशानः, ऐन्द्रे इन्द्रः, याम्ये यमः, वारुण्ये वरुणः, सौम्ये सोमः, ऊर्द्धे ब्रह्मणे नमः, अधस्तानदन्ताय नमः । नैर्ऋत्यां गणपतये नमः, वायौ दुर्गायै नमः, आग्नेये सरस्वत्यै नमः, ईशान्यां क्षेत्रपालाय नमः, सर्वेषां समानम् ।

* * * *

एवं पूजाया उद्यापने विक्रमेण श्रीकृष्णपर्यन्तं निर्याणमुद्रया विश्वकसेनमारभ्य हृदयकमलमध्ये उद्यापयेत् । श्रीकृष्णस्य महानैवेद्यं कृत्वा पुष्पाञ्जलिं दत्त्वा तत्पुरतः दन्तकाष्ठं गोपीचन्दनं मृदादि दौरकादि निधाय गरुड़ासने स्थित्वा संकल्पं कुर्यात् । आयन-प्रावृषी प्राणि-संकुलं वर्त्तुमदृश्यते । अतस्ते स्यामही सार्थं पक्षा वै सृष्टिचोदनात्, पक्षा वै मासाः स्थास्याम, चतुरो मासा, नात्रै वासती बाधके ब्राह्मणा निवसन्तु सुखेनात्र गमिष्यामः कृतार्थताम् । यथाशक्ति च शुश्रुषां करिष्यामो वयं मुदा । रात्रौ पूजा । पुनः प्रातःकाले पूजाया उद्यापनम् । इति व्यासपूजा समाप्ता । श्रीरामार्पणमस्तु । श्रीरामः ।

ॐ विष्णुपाद-श्रीश्रीमद्भक्तिविनोद-ठक्कुर-लिखिता गौड़ीय-वैष्णवाश्रितानां श्रीव्यास-पूजा-पद्धतिः—

(क) वैष्णवाश्रितानां सामान्यतः—

(१) श्रीकृष्णपञ्चकम्,
(२) श्रीव्यासपञ्चकम्,
(३) श्रीवैयासकिपञ्चकम्,
(४) श्रीसनकादिपञ्चकम्,
(५) श्रीगुरु-आचार्यपञ्चकम् इति पूजा-पञ्चकम् ।

(ख) एकान्तिनां गौड़ीय वैष्णवाश्रितानान्तु तत्त्वपञ्चकं—(१) श्रीकृष्ण-चैतन्य-(२) श्रीनित्यानन्द-(३) श्रीअद्वैत-(४) श्रीगदाधर-(५) श्रीवासादि-भक्तवृन्देभ्यो नमः—इति यथाविधि अर्थनीयम् । (ततः श्रीधाम-मायापुरस्थ-श्रीचैतन्य-मठाश्रितानामस्माकन्तु विशेषतः—श्रीदामोदर-स्वरूप-श्रीरूप-श्रीसनातन-श्रीरघुनाथ-श्रीजीव-भट्टयुग-कृष्णदास कविराजादि-श्रीमद्भक्तिविनोद-श्रीमद्गौरकिशोरदास—श्रीमद् भक्तिसिद्धान्त सरस्वती-गोस्वामिपादान्त सर्वेभ्यो गुरुभ्यो नमः इत्युच्चारयेत् ।) चरमे श्रीकृष्ण-चैतन्य गलदेशे पुष्पमाल्यं श्रीचरणे पुष्पाञ्जलि दद्यात् । एकान्ति-विरक्त-वैष्णवानां—"पक्षा वै मासाः स्थास्यामः । चतुरो मासा नात्रै वासती बाधके । वैष्णवाः निवसन्तु सुखेनात्र गमिष्यामः कृतार्थताम्; यथाशक्ति च शुश्रुषां करिष्यामो वयं मुदा ।" "पुनः भाद्रमासि-पूर्णिमायां" पूजां कृत्वा क्षौरं समाप्य विश्व-रूपाष्टायं पठित्वा सुखेन हरिं वद हरिं वद इत्यादि कीर्त्तयेत् । इति व्यासपूजा समाप्ता ॥

जैव-धर्म

[पूर्व प्रकाशित वर्ष २, संख्या ८, पृष्ठ ४७२ से आगे]

द्वेषी व्यक्ति नाना-प्रकारके मतवादोंमें पड़कर शुद्ध भक्तिकी प्रशंसा अथवा उसके सम्बन्धमें कोई सदुपदेश सुनते ही निरर्थक वाद-विवाद करेगा--इससे न तो तुम्हारा ही कोई उपकार होगा, और न उसका ही कोई कल्याण होगा। इस प्रकार बन्ध्या तर्कसे दूर रह कर ऐसे लोगोंके साथ केवल व्यवहारिक सङ्गमात्र करना चाहिये। यदि कहो, द्वेषी व्यक्तियोंको भी बालिशोंके अन्तर्गत मानकर उनपर भी कृपा करनेसे अच्छा होता, तो ऐसा करनेसे कोई उपकार होना तो दूर रहा उलटे अपना भी अपकार होगा। उपकार अवश्य करो, किन्तु सावधान होकर।

मध्यमाधिकारी शुद्ध-भक्तोंके लिये इन चार प्रकार के व्यवहारोंका अवश्य पालन करना चाहिये। ऐसा न करनेसे उन्हें अपने अधिकारके अनुसार अपने कर्त्तव्यों-की अवहेलना जन्य भीषण दोष लगता है--

'स्वे स्वेऽधिकारे या निष्ठा स गुणः परिकीर्त्तितः।
विपर्ययस्तु दोषः स्यादुभयोरेष निर्णयः॥
(श्रीमद्भा० ११।२१।२)

अर्थात्, अपने-अपने अधिकारोंके अनुसार धर्ममें दृढ़ निष्ठा ही गुण कहा गया है और इसके विपरीत अनाधिकार चेष्टा करना ही दोष है। तात्पर्य यह कि गुण और दोष दोनोंका निर्णय अधिकारके अनुसार किया जाता है, किसी वस्तुके अनुसार नहीं।

मध्यमाधिकारी शुद्ध-भक्तोंका यह कर्त्तव्य है कि वह शास्त्र-युक्ति द्वारा ईश्वरके प्रति प्रेम, शुद्ध भक्तोंसे मित्रता, बालिश अर्थात् अतत्त्वज्ञ व्यक्तिके प्रति कृपा और द्वेषी मनुष्योंकी उपेक्षा करे। भक्तिके तारतम्यसे मित्रताका तारतम्य; बालिशोंकी मूर्खता और सरलता के तारतम्यसे उनपर कृपाका तारतम्य और द्वेषी व्यक्तियोंके द्वेषके तारतम्यसे उपेक्षाका तारतम्य उपयुक्त होता है। इन सबका विचार करते हुए मध्यम कोटिके भक्तजन पारमार्थिक व्यवहार करेंगे। लौकिक व्यवहारको पारमार्थिक व्यवहारके अधीन सरलरूपमें करना चाहिये।'

बड़गाछीवाले नित्यानन्द दासने बीच ही में प्रश्न किया--'प्रभो! उत्तम कोटिके वैष्णवोंका व्यवहार कैसा होता है?'

'भाई! तुमने एक प्रश्न तो कर ही रक्खा है, मैं अभी उसीका उत्तर दे रहा हूँ। मेरी बात तो खतम होने दो। मैं अब वृद्ध हो गया हूँ, स्मरण शक्ति भी कम हो चली है। प्रसंगवशतः जो बातें अभी याद हैं, प्रसङ्ग बदलनेसे पीछे उसे भूल जाऊँगा।' हरिदास बाबाजीने कुछ झिझकते हुए कहा।

बाबाजी कुछ कड़े मिजाजके सन्त हैं। यद्यपि वे किसीका कोई दोष नहीं लेते, फिर भी अन्यायपूर्ण बातोंका उत्तर उसी समय तपाकसे दे दिया करते हैं। उनकी बातोंको सुनकर सभी निष्तब्ध हो गये।

बाबाजीने पुनः वट वृक्षके नीचे नित्यानन्द प्रभु को एकबार और दण्डवत्-प्रणाम किया और कहने लगे,—'जब मध्यमकोटिके वैष्णवोंकी भक्ति साधन और भावावस्थाको पार कर प्रेमावस्थामें पहुँचकर अतिशय गाढ़ी हो जाती है, उस समय मध्यमाधिकारी भक्त उत्तम भक्तकी कोटिमें आ जाते हैं। श्रीमद्-भागवतमें उत्तम वैष्णवोंका लक्षण इस प्रकार कहा गया है—

सर्व-भूतेषु यः पश्येद्भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥ (क)
(श्रीमद्भा० ११।२।४५)

(क) जो समस्त भूतोंमें आत्माके आत्मा स्वरूप श्रीकृष्णचन्द्रको देखते हैं और आत्माके आत्मा स्वरूप कृष्णचन्द्र में सर्वभूतको देखते हैं, वे उत्तम भागवत हैं।

'जो सर्व भूतोंमें भगवान्‌के साथ सम्बन्धजनित प्रेममयभाव उपलब्ध करते हैं वे उत्तम कोटिके वैष्णव हैं। इस प्रेममय भावके अतिरिक्त कोई भी दूसरा भाव इनमें नहीं पाया जाता। भगवानके साथ सम्बन्धजनित दूसरे भाव भी कभी-कभी इनमें प्रकाशित हो पड़ते हैं। ऐसे भावोंको प्रेमका विकार समझना चाहिए। उदाहरण-स्वरूप, उत्तम भागवत होते हुए भी शुकदेव गोस्वामीने कंसके प्रति 'भोजपांशुल' आदि जिन शब्दोंका प्रयोग किया है, वे द्वेषपूर्ण सा प्रतीत होनेपर भी वास्तवमें द्वेषपूर्ण नहीं हैं—प्रेमके विकार हैं। इसी प्रकार जब शुद्ध-प्रेम ही भक्तोंका जीवन हो उठता है तब उसे 'उत्तम भागवत' कहा जाता है। इस अवस्थामें मध्यमाधिकारके प्रेम, मैत्री, कृपा, और उपेक्षारूप व्यवहारोंके तारतम्यका विचार नहीं रहता है, प्रत्युत् उनके समस्त व्यवहार प्रेमाकार हो पड़ते हैं। इनकी दृष्टिमें उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ वैष्णवका अथवा वैष्णव और अवैष्णव का कोई भेद नहीं रहता। ऐसी अवस्था अत्यन्त दुर्लभ है।

'अब देखिए, कनिष्ठ वैष्णव तो वैष्णवोंकी सेवा ही नहीं करते एवं उत्तम वैष्णवोंकी दृष्टिमें वैष्णव-अवैष्णवका कोई विचार-भेद ही नहीं रहता, क्योंकि वे प्राणीमात्रको कृष्णदासके रूपमें देखते हैं। इसलिए वैष्णव-सेवा और वैष्णव-सम्मान—केवलमात्र मध्यमाधिकारी वैष्णवोंके ही व्यवहार हैं। मध्यमकोटिके वैष्णवोंके लिए—जो एकबार कृष्णनाम उच्चारण करते हैं, जो निरन्तर कृष्णनाम करते हैं और जिसे दर्शन करनेसे दर्शकके मुखमें कृष्णनाम स्वतः नृत्य करने लगे—इन तीन प्रकारके वैष्णवोंकी सेवा करनी आवश्यक है। उन्हें वैष्णव, वैष्णवतर और वैष्णवतमके तारतम्यानुसार तीन प्रकार वैष्णवोंकी सेवा करनी चाहिए। 'ये उत्तम वैष्णव हैं, ये मध्यम वैष्णव हैं और ये कनिष्ठ वैष्णव हैं, ऐसा विचार नहीं करना चाहिए'—ऐसी बातें केवल उत्तम वैष्णवाधिकारमें ही संभव हैं। यदि मध्यमाधिकारी वैष्णव ऐसी बातें कहते हैं, तो वे इसके लिए अपराधी होंगे। यह विषय श्रीचैतन्य महाप्रभुजीने कुलिन ग्रामके भक्तों को इंगित द्वारा समझा दिया था। मध्यमाधिकारी वैष्णवमात्रके लिए श्रीमन्महाप्रभुकी उपदेश-वाणियाँ वेदसे भी अधिक मान्य हैं। वेद या श्रुति किसे कहते हैं? उत्तर है—परमेश्वरकी आज्ञा ही वेद है।' इतना कह कर हरिदास बाबाजी क्षणभरके लिए चुप हो गए।

'क्या अब मैं कुछ पूछ सकता हूँ?'—नित्यानन्ददासने हाथ जोड़कर बड़े ही नम्र शब्दोंमें कहा।

हरिदास बाबाजीने उत्तर दिया—'खुशीसे पूछ सकते हो।'

नित्यानन्ददासने जिज्ञासा की—'बाबाजी! आप मुझे किस श्रेणीका वैष्णव समझते हैं? अर्थात्, मैं कनिष्ठ वैष्णव हूँ अथवा मध्यम वैष्णव? उत्तम वैष्णव तो हर्गिज नहीं हूँ।'

हरिदास बाबाजीने मुस्कराते हुए कहा—'भैया! नित्यानन्ददास नाम ग्रहण करने पर भी क्या उत्तम वैष्णव होना बाकी रहता है? मेरे निताई बड़े दयालु हैं, मार खाकर भी प्रेम दान करते हैं। फिर उनका नाम ग्रहण करने पर तथा उनका दास होनेपर शेष ही क्या रह जाता है?'

नित्यानन्ददास—'प्रभो! मैं सरलतापूर्वक अपना अधिकार जानना चाहता हूँ।'

हरिदास—'तब तुम अपना पूरा ब्यौरा सुनाओ, यदि निताई मुझसे कुछ कहलाना चाहेंगे तो अवश्य कहूँगा।'

नित्यानन्ददास—पद्मावती नदीके किनारे एक छोटेसे गाँवमें मेरा जन्म हुआ था। माता-पिता नीच जातिके थे। बचपनसे ही मैं बहुत सीधा-सादा और नम्र स्वभावका था। असत् संगसे सर्वदा दूर रहा करता था। थोड़ी उम्रमें ही मेरा विवाह कर दिया गया। कुछ ही दिनोंमें माता-पिताका देहान्त हो गया। घरमें अब मैं और मेरी स्त्री—दो ही प्राणी थे। कोई विशेष सम्पत्ति तो थी नहीं, प्रतिदिन काम करते और खाते। इस प्रकार हमारे दिन सुखसे ही बीतते। किन्तु यह सुख अधिक दिनोंतक न रहा। मेरी दुनियाँको

उजाड़ बनाती हुई मेरी स्त्री मुझे अकेला छोड़ कर चल बसी। स्त्री-वियोगसे मेरे हृदयमें संसारके प्रति कुछ वैराग्य हो आया। मेरे पूर्वाश्रमके निकट ही बड़गाछी ग्राम है। उस समय बहुतसे गृहत्यागी वैष्णव वहाँ भजन करते थे। लोग उनका खूब सम्मान करते। मैं पहलेसे ही वहाँ अक्सर जाया करता था। मेरे मनमें भी वैसा ही सम्मान पानेकी तीव्र आकांक्षा थी। इधर पत्नी-वियोग होनेसे संसारके प्रति अब कोई आकर्षण भी न था। मैं सीधा बड़गाछी भागा और क्षणिक वैराग्यके दौरेमें वैष्णव-वेश भी ले लिया।

कुछ दिन बीतते न बीतते ही मेरा मन चंचल हो उठा। हृदयमें तरह-तरहके बुरे विचार मँडराने लगे। मेरा संभलना अत्यन्त मुश्किल हो गया। परन्तु मेरा सौभाग्य ही कहिये, मुझे एक शुद्ध और सरल वैष्णव-सङ्ग मिल गया। आजकल वे व्रजमें भजन कर रहे हैं। वे मुझ पर बहुत ही स्नेह रखते थे। उन्होंने मुझे बहुतसे सदुपदेश प्रदान किये और अपने साथ रखकर मेरा चित्त शोधन कर दिया।

अब मेरे मनमें बुरे विकार नहीं आते। एक लाख हरिनाम करनेकी इच्छा होती है। नाम और नामीको अभेद और चिन्मय समझता हूँ। एकादशी आदि हरिवासरोंका विधिवत् पालन करता हूँ। तुलसी को जलदान आदि करता हूँ। जब वैष्णवजन कीर्तन करते हैं, तो मैं भी उनके साथ तनिक आवेशमें आकर कीर्तन करता हूँ। वैष्णवोंका चरणामृत पान करता हूँ, नित्य-प्रति थोड़ा-बहुत भक्ति-ग्रन्थोंका पाठ भी करता हूँ। उत्तम-उत्तम भोजन एवं उत्तम-उत्तम आच्छादनकी कोई कामना नहीं होती। ग्राम्य कथाएँ बुरी लगती हैं। वैष्णवोंको देखते ही उनके चरणोंमें लोटनेकी इच्छा होती है और बीच-बीचमें ऐसा करता भी हूँ; किन्तु प्रायः कुछ प्रतिष्ठाकी आशा लिए हुए। अब आप कृपा कर बतलाइए, मैं कौन सी श्रेणीका वैष्णव हूँ तथा मेरा व्यवहार कैसा होना चाहिए?

हरिदास बाबाजीने वैष्णवदास बाबाजी महाराज की ओर देखते हुए हँस कर कहा—'कहिए, नित्यानन्ददास कौन सी श्रेणीके वैष्णव हैं?'

वैष्णवदास—'मैंने जो कुछ सुना, उससे जान पड़ता है कि वे कनिष्ठाधिकारको पार कर मध्यमाधिकारमें प्रवेश कर चुके हैं।'

हरिदास—'मैं भी ऐसा ही समझता हूँ।'

नित्यानन्ददास—'अच्छा हुआ, आज मैं वैष्णवों के मुखसे अपना अधिकार जान सका। आप लोग कृपा करें, मैं क्रमशः उत्तम अधिकारी हो सकूँ।'

वैष्णवदास—'वेश लेनेके समय आपके हृदयमें प्रतिष्ठाकी कामना थी। उस समय आप वेशके अधिकारी न थे, इसलिए उस समय आपका वेश लेना अनाधिकार चर्चारूप दोषसे दूषित था। जैसा भी हो, वैष्णवोंकी कृपासे आपका यथेष्ट कल्याण हुआ है।'

नित्यानन्ददास—'मुझमें अब भी कुछ-कुछ प्रतिष्ठाकी आशा है। अब भी अपनी आँखोंके जल और तरह-तरहके भावोंसे लोगोंको आकर्षित कर उच्च सम्मान पानेकी इच्छा होती है।'

हरिदास—'यत्नपूर्वक इसका परित्याग करो, नहीं तो इससे भक्तिके क्षय होनेका डर है। याद रखो, यदि भक्ति क्षय हुई तो पुनः कनिष्ठ-अधिकारमें उतर जाना पड़ेगा। काम-क्रोध आदि षड्रिपुओंके दूर होनेपर भी प्रतिष्ठाकी आशा दूर नहीं होती। यह वैष्णवोंकी सबसे जबरदस्त शत्रु है। यह साधक को सहज ही छोड़ना नहीं चाहती। विशेषतः छाया भावाभासको छोड़कर सच्चे भावका एक बिन्दु होना भी कल्याणप्रद है।'

'आप कृपा करें।' कहते-कहते नित्यानन्ददासने हरिदास बाबाजीके चरणोंकी धूलि लेकर अपने मस्तक पर धारण कर लिया। पैरोंकी धूलि लेते देखकर बाबाजी बड़े संकुचित हुए और जल्दीसे उठकर उन्होंने उसे छातीसे लगा लिया तथा अपने पास बैठा कर उसकी पीठपर हाथ फेरने लगे। नित्यानन्दकी आँखोंसे झर-झर कर आँसू गिरने लगे। हरिदास बाबाजी भी

लाख कोशिश करके भी अपने आँसुओंको थाम न सके। एक अपूर्व भाव उदित हुआ। उपस्थित सभी वैष्णवोंकी आँखें उमड़ आयीं। नित्यानन्ददासका जीवन आज सार्थक हो गया। इन्होंने मन-ही-मन हरिदास बाबाजीको अपना गुरु मान लिया।

भावोंके शान्त होनेपर नित्यानन्ददासने फिर पूछा—'भक्तिके सम्बन्धमें कनिष्ठ भक्तोंका मुख्य लक्षण क्या है? और गौण लक्षण क्या है?'

हरिदास—'भगवान्‌के नित्य-स्वरूपमें विश्वास और भगवान्‌की अर्चाकी पूजा—ये कनिष्ठ वैष्णवोंके दो मुख्य लक्षण हैं। उनके श्रवण, कीर्तन, स्मरण और वन्दनादि अनुष्ठान-समूह गौण लक्षण हैं।'

नित्यानन्द दास—'नित्य-स्वरूपमें विश्वास हुए बिना और अर्चामूर्त्तिकी विधियोंका अवलम्बन किये बिना वैष्णव नहीं हुआ जा सकता; इसीलिये ये दोनों मुख्य लक्षण हैं—इसे मैं अच्छी तरह समझ गया। किन्तु उनके श्रवण कीर्तन आदि अनुष्ठान-समूह गौण लक्षण क्यों हैं?'

हरिदास—'कनिष्ठ वैष्णवको शुद्ध-भक्तिके स्वरूप-का बोध नहीं होता। श्रवण, कीर्तन आदि शुद्धभक्ति-के अङ्ग हैं। शुद्धभक्तिके स्वरूप-बोधके अभावमें उनकी श्रवण और कीर्त्तन आदि क्रियाएँ मुख्य धर्मके रूपमें प्रकाशित नहीं होतीं, प्रत्युत् गौणरूपमें प्रकाशित होती हैं। विशेषतः सत्त्व, रज और तम—ये तीनों प्रकृतिके गुण हैं। इसलिये ये गुणसे उत्पन्न अर्थात् गौण कहलाती हैं। परन्तु यदि ये अनुष्ठान-समूह—निर्गुण रूपमें हो तो वे भक्तिके अङ्ग हैं। जिस समय ये अनुष्ठान निर्गुणताको प्राप्त कर लेते हैं, उसी समय मध्यमाधिकार उपस्थित हो पड़ता है।'

नित्यानन्ददास—'कनिष्ठ वैष्णवोंमें कर्म और ज्ञान रूप दोष जबतक वर्तमान रहता है तथा नाना प्रकारकी भगवद्भक्तिसे इतर कामनाएँ उनके हृदयमें भरपूर रहती हैं, तबतक उनको भक्तकी संज्ञा कैसे दी जा सकती है?'

हरिदास—'भक्तिका मूल श्रद्धा है? जिनकी यह श्रद्धा उत्पन्न हो गयी, वे उसी समय भक्तिके अधिकारी हो गये। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि वे भक्तिके द्वार पर उपस्थित हो गये हैं। 'श्रद्धा' शब्दका अर्थ 'विश्वास' से है। कनिष्ठ भक्तोंको जब श्रीमूर्त्तिके प्रति विश्वास पैदा हो गया है, तब वे भक्तिके अधिकारी हैं।'

नित्यानन्ददास—'वे कब भक्ति प्राप्त कर सकेंगे?'

हरिदास—'जब उनके ज्ञान और कर्मरूप दोष दूर हो जायेंगे, अनन्य-भक्तिके अतिरिक्त दूसरी-दूसरी समस्त अभिलाषाओंका उनमें सर्वथा अभाव हो जायगा, तथा भक्त-सेवाको अतिथि सेवासे पृथक् जानकर जब भक्तिके अनुकूलस्वरूपा भक्त-सेवाके प्रति उनकी रुचि उत्पन्न होगी, तब वे मध्यमाधिकारी भक्तकी श्रेणीमें आ जायेंगे।'

नित्यानन्ददास—'शुद्ध-भक्ति, सम्बन्ध-ज्ञानके साथ उत्पन्न होती है, उनमें सम्बन्ध-ज्ञान पैदा हो कब हुआ, जिससे वे शुद्ध-भक्तिके अधिकारी बन गये?'

हरिदास—'मायावादरूप दूषित-ज्ञान दूर होने पर प्रकृत सम्बन्ध-ज्ञान और शुद्धभक्ति साथ-साथ प्रकाशित होते हैं।'

नित्यानन्ददास—'कबतक होते हैं?'

हरिदास—'जिनकी सुकृतिमें जितनी ही अधिक शक्ति होती है।'

नित्यानन्ददास—'सुकृति द्वारा सर्व प्रथम क्या होता है?'

हरिदास—'सत्संग प्राप्त होता है।'

नित्यानन्ददास—'सत्संगके बाद क्या होता है?'

हरिदास—'श्रीमद्भागवतमें भक्तिके क्रम-विकास का सुन्दर विवेचन है—

सतां प्रसङ्गान्मम वीर्य-सम्विदो
भवन्ति हृत्-कर्ण-रसायनाः कथाः।
तज्जोषणादाश्वपवर्ग - वर्त्मनि,
श्रद्धा-रति-र्भक्तिरनुक्रमिष्यति ॥ (क) ॥

(श्रीमद्भा० ३।२५।२५)

(क) सत्पुरुषोंके समागमसे मेरे पराक्रमोंका यथार्थ ज्ञान करानेवाली तथा हृदय और कानोंको प्रिय लगनेवाली वीर्यवती कथाएँ होती हैं। उनका सेवन करनेसे शीघ्र ही अविद्यानिवृत्तिके पथ स्वरूप मुझमें श्रद्धा, रति और प्रेम-भक्तिका क्रमशः निवास होता है।

सत्संगमें हरिकथाका श्रवण करनेसे क्रमशः श्रद्धा, रति और भक्ति प्रकाशित होती है।'

नित्यानन्ददास—'सत्संगकी प्राप्ति कैसे होती है ?'

हरिदास—'पहले ही कह चुका हूँ कि सत्संग सुकृतिसे प्राप्त होता है।'

भवापवर्गो भ्रमतो यदा भवे-
ज्जनस्य हह्यच्युत - सत्समागमः।
सत्संगमो यर्हि तदैव सङ्गतौ
परावरेशे त्वयि जायते रतिः॥ (ख)

(श्रीमद्भागवत १०।५१।५३)

नित्यानन्ददास—'यदि साधुसंग द्वारा ही कनिष्ठ भक्तोंकी श्रीमूर्तिमें रुचि उत्पन्न हुई होती है, तब इस कथनका तात्पर्य क्या है कि 'वे साधु-सेवा नहीं करते ?'

हरिदास—'दैवयोगसे सत्संग प्राप्त होनेपर श्रीमूर्तिके प्रति विश्वास जन्मता है, किन्तु भगवत्-पूजा एवं साधुसेवा-दोनों साथ-साथ होनी आवश्यक है। जबतक ऐसी श्रद्धा उत्पन्न नहीं होती, तबतक वैसी श्रद्धाको पूर्ण श्रद्धा नहीं कह सकते, तथा तब-तक अनन्य भक्तिमें भी अधिकार नहीं होता।'

नित्यानन्ददास—'कनिष्ठ भक्तोंकी उन्नतिका क्रम क्या है ?'

हरिदास—'जिनकी श्रीमूर्त्तिके प्रति श्रद्धा तो उत्पन्न हो चुकी है, किन्तु कर्म और ज्ञानरूप दोष तथा कृष्णेतर अभिलाषाएँ दूर नहीं हो सकी हैं, वे प्रति-दिन भगवान्‌की अर्चा-पूजा करते हैं। घटनावश अतिथिके रूपमें कोई साधु उनके निकट उपस्थित होता है। वे अन्यान्य अतिथियोंकी तरह उस साधु-महात्मा-का भी सत्कार करते हैं। साथ ही वे उस साधुकी क्रियाओं और व्यवहारोंके प्रति लक्ष्य रखते हैं, तथा साधु द्वाराकी गयी शास्त्र-चर्चाओंका श्रवण भी करते हैं। इस प्रकार देखते-सुनते कनिष्ठ भक्तोंके हृदयमें साधुओंके चरित्रके प्रति आदरका भाव पैदा हो जाता है। ऐसी दशामें अपनी त्रुटियों पर उनकी दृष्टि जाती है। वे उस साधु-चरित्रका अनुसरण करते हुए अपने चरित्रका सुधार करने लगते हैं। धीरे-धीरे उनके कर्म और ज्ञानरूप दोष क्षय हो जाते हैं। हृदय जितना ही शुद्ध होता है, भक्तिसे इतर अभिलाषाएँ उसके हृदयसे दूर होती जाती हैं। भगवत्तत्त्व और भगवत्कथा सुनते-सुनते शास्त्र-चर्चा होती है। हरिकी निर्गुणता, हरिनामकी निर्गुणता और श्रवण कीर्तन आदि भक्तिके अङ्गोंकी निर्गुणता पर वे जितना ही अधिक विचार करते हैं, उनका सम्बन्ध-ज्ञान क्रमशः दृढ़तर होता जाता है एवं जिस समय उनका सम्बन्ध ज्ञान सम्पूर्ण हो जाता है, उनका मध्यमाधिकार भी उसी समय उपस्थित हो जाता है। इसी समय उनका वास्तविकरूपमें साधु-संग आरम्भ होता है। अब वे साधुओंको साधारण अतिथियोंकी श्रेणीसे पृथक् कर—अत्यन्त श्रेष्ठ मानकर उनके प्रति गुरु बुद्धि रखने लगते हैं।'

नित्यानन्ददास—'बहुतसे कनिष्ठ भक्तोंकी उन्नति नहीं देखी जाती, इसका क्या कारण है ?'

हरिदास—'द्वेषी-सङ्ग प्रबल रहनेसे कनिष्ठाधिकार क्रमशः क्षय हो जाता है और उसके स्थानपर ज्ञान और कर्माधिकार प्रबल हो उठता है। किसी-किसी जगह अधिकार न तो क्षय ही होता है, और न उन्नत ही होता है—बिल्कुल स्थिर रहता है।'

नित्यानन्ददास—'ऐसा कब होता है ?'

हरिदास—'जहाँ साधु-सङ्ग और द्वेषी-सङ्ग समान रूपमें चलते हैं।'

नित्यानन्ददास—'किस अवस्थामें निश्चितरूपमें प्रगति होती है ?'

हरिदास—'जहाँ सत्संग प्रबल और द्वेषी-संग निर्बल होता है।'

(ख) अपने स्वरूपमें नित्यस्थित रहनेवाले भगवन् ! जीव अनादि कालसे जन्म-मृत्युरूप संसारके चक्करमें भटक रहा है। जब उस चक्करसे छुटनेका समय आता है तब उसे सत्संग प्राप्त होता है। यह निश्चय है कि जिस क्षण सत्संग प्राप्त होता है, उसी क्षण सन्तोंके आश्रय चित् और अचित्‌के ईश्वर आपमें जीवकी बुद्धि अत्यन्त दृढ़तासे लग जाती है।

नित्यानन्ददास—'कनिष्ठाधिकारियोंमें पाप - पुण्यकी प्रवृत्ति कैसी होती है ?'

हरिदास—'प्रथमावस्थामें कर्मियों और ज्ञानियों की तरह, पीछे जैसे-जैसे उनकी भक्तिवृत्ति निर्मल होती जाती है, उनकी पाप-पुण्यकी प्रवृत्ति भी शिथिल होती जाती है ।'

नित्यानन्ददास—'प्रभो ! कनिष्ठाधिकारकी बातें मेरी समझमें आगई हैं, अब मध्यमाधिकारी भक्तोंका मुख्य लक्षण बतलाइये ।'

हरिदास—श्रीकृष्णके प्रति अनन्य भक्ति, भक्तोंके प्रति अपनापनका भाव, उनके प्रति प्रगाढ़ ममत्व, उनके प्रति पूज्य और तीर्थ-बुद्धि रखते हुए मित्रता, अतत्त्वज्ञ व्यक्तियोंके प्रति कृपा एवं द्वेषीजनों के प्रति उपेक्षा—ये मध्यमाधिकारी भक्तोंके मुख्य लक्षण हैं । सम्बन्ध ज्ञानके साथ साधन भक्तिरूप अभिधेय द्वारा कृष्णप्रेमरूप प्रयोजनकी सिद्धि ही इस अधिकारकी मुख्य प्रक्रिया है । साधारणतः इस अवस्थामें निरपराधरूपमें सत्संगमें हरिनाम कीर्तन आदि परिलक्षित होते हैं ।'

नित्यानन्ददास—'उनका गौण लक्षण क्या है ?'

हरिदास—'जीवन यात्रा ही उनका गौण लक्षण है । उनका जीवन सम्पूर्णरूपमें कृष्णकी इच्छाके अधीन और भक्तिके अनुकूल होता है ।'

नित्यानन्ददास—'उनमें पाप अथवा अपराध रह सकता है या नहीं ?'

हरिदास—'प्रथम अवस्थामें थोड़ा-बहुत रह सकता है, परन्तु वह धीरे-धीरे उसी प्रकार दूर हो जाता है जिस प्रकार चनेको पीसते समय पहले-पहल कुछ-कुछ छोटे-छोटे टुकड़े दीख पड़ते हैं, पर कुछ ही क्षणोंमें पीसे जाकर उन टुकड़ोंका अस्तित्व तक मिट जाता है । युक्तवैराग्य उनका प्राण होता है ।'

नित्यानन्ददास—'कर्म, ज्ञान, और अन्याभिलाष (कृष्णेतर अभिलाष) उनमें तनिक भी होते हैं या नहीं ?'

हरिदास—'प्रथम अवस्थामें उनका कुछ-कुछ आभास तो रहता है, परन्तु पीछे वह भी निर्मूल हो जाता है । प्रथम अवस्थामें जो कुछ रहता है, बीच-बीचमें यदा-कदा दृष्टिगोचर होता है किन्तु धीरे-धीरे फिर अन्तर्हित हो जाता है ।'

नित्यानन्ददास—'क्या उन्हें जीवित रहनेकी इच्छा होती है ? यदि होती है तो क्यों ?'

हरिदास—'यों तो उनमें जीने, या मरने अथवा मुक्त होनेकी कोई इच्छा नहीं होती, फिर भी केवल भजनकी परिपक्वताके लिये वे जीवित रहना चाहते हैं ।'

नित्यानन्ददास—'क्यों, वे मरना भी नहीं चाहते ? मरनेके बादही तो कृष्णकी कृपासे उनकी स्वरूपमें अवस्थिति होगी ? इस भौतिक शरीरमें सुख ही क्या है ?'

हरिदास—'उनकी कोई भी स्वतंत्र इच्छा नहीं होती । उनकी सारी इच्छाएँ कृष्णकी इच्छाओंके अधीन होती हैं । वे ऐसा मानते हैं कि प्रत्येक घटना कृष्ण की इच्छासे ही होती है, जब उनकी जैसी इच्छा होगी, तब तैसी ही घटनाएँ होंगी, अतः उनको स्वयं कोई स्वतंत्र इच्छा करनेकी आवश्यकता नहीं होती ।'

नित्यानन्ददास—'मैं मध्यमाधिकारी भक्तोंके लक्षण भी समझ गया, अब मुझे उत्तमाधिकारी भक्तोंका गौण लक्षण बतलाइये ।'

हरिदास—'केवल दैहिक क्रिया ही उनका गौण लक्षण है, वह भी निर्गुण प्रेमके इतनी अधीन कि पृथक् रूपमें गौण भाव दिखलायी नहीं पड़ता ।'

नित्यानन्ददास—'प्रभो । कनिष्ठाधिकारीके लिए तो गृहत्यागकी कोई विधि ही नहीं है, मध्यमाधिकारी गृही अथवा गृहत्यागी दोनोंमें से किसी भी अवस्था में रह सकता है, किन्तु उत्तमाधिकारी भक्त क्या गृहस्थ रह सकते हैं ?'

हरिदास—'भक्तिका तारतम्य ही अधिकार निर्णयकी कसौटी है । गृहस्थ या गृहत्यागी होनेसे ही कोई अधिकार नहीं प्राप्त किया जा सकता है । उत्तमाधिकारी भक्त गृहस्थ भी रह सकते है, इसमें

कोई दोष नहीं हैं। व्रजके गृहस्थ-भक्त सभी उत्तमाधिकारी हैं। हमारे श्रीचैतन्य महाप्रभुके अनेक गृहस्थ भक्त थे जो उत्तमाधिकारी थे। राय रामानन्द उसके जाज्वल्यमान प्रमाण हैं।'

नित्यानन्द दास—'प्रभो! यदि कोई उत्तमाधिकारी भक्त गृहस्थ हो और मध्यमाधिकारी भक्त गृह-त्यागी हो, तो उनका एक दूसरेके प्रति क्या कर्त्तव्य होगा?'

हरिदास—'निम्नाधिकारी उत्तमाधिकारीको दण्डवत्-प्रणाम करेंगे। यह विधि केवल मध्यमाधिकारीके ऊपर लागू है, क्योंकि उत्तमाधिकारी भक्त प्रणाम आदिकी अपेक्षा नहीं रखते। वे सब भूतोंमें भगवद् भाव दर्शन करते हैं।'

नित्यानन्द दास—'क्या बहुतसे वैष्णवोंको एकत्रितकर प्रसाद-सेवारूप महोत्सव करना कर्त्तव्य है?'

हरिदास—'यदि किसी कारणवश बहुतसे वैष्णव एक स्थान पर एकत्रित हुए हों और कोई मध्यमाधिकारी गृहस्थ भक्त उनको प्रसाद-सेवा करना चाहते हैं, तो उसमें कोई पारमार्थिक आपत्ति नहीं है। किन्तु वैष्णव सेवाके लिए अधिक आडम्बर करना उचित नहीं, क्योंकि उससे राजस भाव हो जाता है। उपस्थित साधु-वैष्णवोंको यत्नपूर्वक प्रसाद सेवा करानी चाहिए। इससे वैष्णवोंके प्रति आदरका भाव प्रदर्शन करना हो जाता है इसलिए ऐसा करना कर्त्तव्य है। प्रसाद-सेवाके लिए केवल शुद्ध वैष्णवों को ही निमंत्रित करना चाहिए।

नित्यानन्द दास—'हमारे बड़गाछीमें आजकल एक नयी जाति सृष्ट हुई है। ये लोग अपनेको वैष्णव संतान कहते हैं। गृहस्थ कनिष्ठाधिकारी लोग उन्हें निमंत्रण देकर वैष्णव-सेवा (वैष्णव-भोजन) कराते हैं। उनका यह कार्य कैसा है?

हरिदास—'क्या उन 'वैष्णव-संतानों' को शुद्धा भक्तिकी प्राप्ति हो चुकी है?'

नित्यानन्द दास—'नहीं तो, उन लोगोंमें से किसीमें भी शुद्धा भक्ति दिखलायी नहीं पड़ती। वे अपनेको वैष्णव कहते हैं। उनमें कोई-कोई कौपीन भी धारण करते हैं।'

हरिदास—'कह नहीं सकता, ऐसी पद्धति का प्रचलन कैसे हुआ? ऐसा न होना ही उचित है। जान पड़ता है, कनिष्ठ वैष्णवोंमें वैष्णव पहचाननेकी शक्तिका अभाव ही इसका कारण है?'

नित्यानन्द दास—'क्या वैष्णव-सन्तानोंके लिए कोई विशेष सम्मान है?'

हरिदास—'सम्मान वैष्णवका ही है, यदि वैष्णव-सन्तान शुद्ध वैष्णव हों तो वे अपनी भक्तिके तारतम्यानुसार सम्मानके अधिकारी हैं?'

नित्यानन्द दास—'और यदि वैष्णव-सन्तान केवल व्यवहारिक मनुष्य हों?

हरिदास—'तब उनके प्रति साधारण मनुष्योचित व्यवहार ही उचित है। वे वैष्णवोचित सम्मानके अधिकारी नहीं हैं। इस विषयमें श्रीमन्महाप्रभुकी शिक्षा सर्वदा स्मरण रखने योग्य है—

तृणादपि सुनीचेन तरोरपि सहिष्णुना।
अमानिना मानदेन कीर्त्तनीयः सदाहरिः॥

(शिक्षाष्टक—३)

—तृणकी अपेक्षा अधिक दीन-हीन, वृक्षसे भी अधिक सहिष्णु तथा स्वयं मानशून्य होकर दूसरों को मान प्रदान करते हुए श्रीहरिनाम संकीर्त्तन करना ही एकमात्र कर्त्तव्य है।

स्वयं मानशून्य होना चाहिए तथा दूसरोंका यथायोग्य सम्मान करना चाहिए। वैष्णवोंको वैष्णवोचित सम्मान देना चाहिए तथा जो वैष्णव नहीं है, उन्हें मानवोचित सम्मान देना ही उचित है। दूसरोंके प्रति मानद (मान देनेवाला) न होने से हरिनाम में अधिकार नहीं जन्मता।

क्रमशः